सम्पादकीय

# पूँजीवाद का चिरस्थायी और असाध्य संकट

***''मौजूदा व्यवस्था टिकाऊ नहीं है, यह बात इस व्यवस्था की दुर्बलता और कमजोरी से ही साबित हो जाती है कि इसने इस धरती को एक विराट जुआघर में बदल दिया है तथा करोड़ों लोगों को और कहीं-कहीं तो पूरे समाज को ही जुआरी बना दिया है। मुद्रा और निवेश के कार्य को इस तरह दूषित कर दिया गया है कि वे उत्पादन और दुनिया की सम्पदा बढ़ाने की बजाय पैसे से पैसा कमाने का जरिया बन गये हैं। इस तरह की विकृति विश्व अर्थव्यवस्था को तबाही की ओर ले जायेगी, यह तय है।''***

***-फिदेल कास्त्रो* (2008 के अमरीकी महासंकट के बाद बयान)**

**वित्तीय पूँजी का** उफान और मुक्त बाजार की उन्मादी तरंग, जिसने छः साल पहले 'अमरीकी शताब्दी की हवा निकाल दी थी और विकसित पूँजीवादी देशों को आर्थिक संकट के भँवर में धकेल दिया था, आज भी थमा नहीं है। इसने विश्वव्यापी संकट का रूप धारण लिया है तथा दुनिया के कोने-कोने में महामारी की तरह फैल रहा है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में समय-समय पर आनेवाली मन्दी और सामान्य आवर्ती संकट अब बीते युग की बात हो गयी। साम्राज्यवादी वैश्वीकरण के वर्तमान दौर में पूँजीवाद का आर्थिक संकट चिरस्थायी, असमाधेय और ढाँचागत संकट में बदल गया है। पूँजीवादी मीडिया और अर्थशास्त्री भी अब इस तथ्या को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकार कर रहे हैं कि 2008 का वित्तीय संकट वैश्विक अर्थव्यवस्था में अपनी उपस्थिति बनाये हुए है और कभी भी यह सतह पर आ सकता है। विश्व बैंक, मुद्राकोष, अन्तरराष्ट्रीय श्रम संगठन और कई अन्य शोध संस्थाओं की ताजा रिपोर्टों में आसन्न आर्थिक मन्दी और संकट के खतरे को लेकर गहरी चिन्ता दिखाई देती है।

दुनिया की तीन शीर्षस्थ पूँजीवादी संस्थाओं-- अन्तरराष्ट्रीय श्रम संगठन, ओईसीडी, और विश्व बैंक ने पूरी दुनिया में व्याप्त रोजगार संकट पर अपनी ताजा रिपोर्ट प्रस्तुत की। इन तीनों का निचोड़ एक ही है जिसे विश्व बैंक के एक आला अफसर ने इन शब्दों में व्यक्त किया-- ''इसमें संदेह नहीं कि वैश्विक रोजगार संकट विद्यमान है।''

सितम्बर माह में जी-20 देशों के श्रम मंत्रियों ने आस्ट्रेलिया में एक बैठक की और इन तीनों रिपोर्टों के बारे में एक संयुक्त वक्तव्य दिया, जिसका निष्कर्ष था-- ''विश्व की सबसे बड़ी अर्थव्यवस्थाएँ पर्याप्त रोजगार सृजन में असफल रही हैं और जो थोड़े से रोजगार पैदा हो रहे हैं, वे इतनी निम्न कोटि के हैं कि वैश्विक विकास में तेजी लाने में उनकी कोई खास भूमिका नहीं है।'' 2008 के वित्तीय संकट से पहले धनी देशों के कुल बेरोजगारों में लम्बे समय तक कोई काम नहीं पानेवालों का अनुपात 20 प्रतिशत था जो बढ़कर अब 33 प्रतिशत हो गया। अमरीका में 80 लाख लोगों को बेरोजगारी की परिभाषा में फेर-बदल करके और फर्जी गणना करके श्रमशक्ति की सूची से ही बाहर कर दिया गया। अब उनका नाम न तो बेरोजगारों की सूची में है, और न ही रोजगारशुदा लोगों में।

आज पूरी दुनिया में श्रम लागत घटाने के नाम पर स्थायी रोजगार बहुत ही सीमित कर दिया गया है। आंशिक रोजगार, अस्थायी रोजगार और ठेका प्रथा का प्रचलन तेजी से बढ़ा है। इसका सीधा अर्थ है-- कम वेतन, सेवा शर्तों और अन्य सुविधाओं में कटौती, श्रम कानून के दायरे से कर्मचारियों को बाहर करना, सेवानिवृत्ति के बाद पेंशन और अन्य सुवधाएँ समाप्त करना। इसी के साथ-साथ शिक्षा, स्वास्थ्य और अन्य आवश्यक सेवाओं का निजीकरण करके और कीमतें बढ़ाकर वास्तविक मजदूरी और आमदनी को लगातार कम किया जा रहा है। भारत में श्रम सुधार के नाम पर मोदी सरकार यहाँ पहले से ही प्रचलित चीजों को कानूनी जामा पहनाने का हर सम्भव प्रयास कर रही है।

रोजगार संकट दरअसल मेहनतकशों की मजदूरी का संकट है, उनकी आमदनी और उपभोग में कमी का संकट है। इसके परिणामस्वरूप दुनिया-भर में कंगाली-बदहाली बढ़ रही है और अमीर-गरीब के बीच की खाई लगातार चौड़ी होती जा रही है।

ओईसीडी की आर्थिक विषमता रिपोर्ट 2014 में कहा गया है कि असमानता की ऊँची और बढ़ती खाई टिकाऊ विकास के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा है। 80 के दशक में 10 प्रतिशत ऊपरी तबके और 10 प्रतिशत सबसे गरीब लोगों की आय में 7 गुने का अन्तर था, जो आज बढ़कर 9.5 गुना हो गया है। पूँजीवादी देशों

में आर्थिक संकट के बाद भी धनी और धनी होते गये, जबकि गरीब और अधिक गरीब। पूँजीवाद के गढ़, अमरीका में 4.8 करोड़ लोग गरीबी में जी रहे हैं। वहाँ की आर्थिक असमानता न केवल बहस का मुद्दा बनी हुई है, बल्कि इस सवाल को लेकर लोग सड़कों पर उतर रहे हैं।

25 साल पहले दुनिया के शक्ति सन्तुलन में प्रबल बदलावों का लाभ उठाते हुए साम्राज्यवादी समूह ने अमरीका की अगुवाई में 'वाशिंगटन आम सहमति' कायम की थी और नयी विश्व व्यवस्था की नीव रखी थी। दरअसल साम्राज्यवादी समूह मंसूबा बहुत पहले से बाँध रहा था। लेकिन दुनिया का वर्ग-शक्ति सन्तुलन इसके प्रतिकूल था। रूसी खेमे के बिखराव के साथ उन्हें यह अवसर मिल पाया। नवउदारवादी वैश्वीकरण का नारा था कि अर्थव्यवस्था को पूरी तरह मुक्त कर दो तो वह मजबूत और टिकाऊ हो जायेगी। बाजार के उतार-चढ़ाव और आर्थिक अफरा-तफरी से निजात पाना है तो बाजार को बेलगाम छोड़ दो। सामयिक विश्व विजय के नशे में चूर पूँजीवादी अर्थशास्त्रियों ने 'संकट मुक्त अर्थतंत्र,' 'एक ध्रुवीय विश्व' और 'पूँजीवाद का कोई विकल्प नहीं' के जो गुब्बारे छोड़े थे। हालाँकि इस हर्षोन्माद के कुछ समय बाद एशियाई संकट, अमरीकी डॉट कॉम तबाही और दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में एक के बाद एक आनेवाले वित्तीय विध्वंशों ने उनकी हवा निकाल दी थी। 2008 में अमरीकी गृहऋण बुलबुला फटने के साथ जिस वित्तीय महासंकट की विस्फोटक शुरुआत हुई, उसने रही-सही कसर भी पूरी कर दी।

इस संकट ने स्पेन, इटली, यूनान, पुर्तगाल, फ्रांस और कई विकसित अर्थव्यवस्थाओं को धराशायी कर दिया। भारत सहित विकासशील देश भी, जिन्हें आघात-सह (शॉक-एर्ब्जबर) माना जाता था, इस संकट की मार से अछूते नहीं रहे हैं। विदेशी पूँजी, तकनीक और कर्ज पर आश्रित इन अर्थव्यवस्थाओं को भुगतान सन्तुलन की इस स्थायी समस्या से निपटने के लिए विकास दर बढ़ाने और व्यापार घाटा कम करने के लिए लगातार हाथ-पाँव मारना पड़ता है। अपने देश की परिसम्पत्ति और प्राकृतिक संसाधनों को कौड़ियों के मोल नीलाम करके और कड़ी शर्तों पर विदेशी पूँजी निवेश मँगवाकर ही वे इस सन्तुलन को कायम रख सकते हैं। लेकिन अधिकांश अर्थव्यवस्थाओं के लिए इसे जारी रखना सम्भव नहीं। कर्ज जाल में फँसना, दिवालिया होना और विश्व बैंक, मुद्रा कोष के कठोर उपायों को स्वीकारकर पहले से भी अधिक पराश्रित होना इन अर्थव्यवस्थाओं की नियति है। मोदी के नेतृत्व में विकास के सब्ज बाग और सुधारों में तेजी को इसी परिप्रेक्ष में देख सकते हैं। नये निवेश के लिए सारे अवरोधों को हटाना, निवेश का निमंत्रण लेकर दुनिया-भर में दौरा, रक्षा और बीमा सहित अर्थव्यवस्था सभी क्षेत्रों को विदेशी निवेश के लिए खोलना, 'भद्र जनोचित टैक्स,' पर्यावरण कानूनों की धज्जी उड़ाना, 'श्रमेव जयते' की ओट में श्रम कानूनों में बदलाव, 'मेक इन इण्डिया,' सौ स्मार्ट शहर बसाना, निजीकरण की नयी आँधी, सार्वजनिक उद्यमों के शेयर बेचना, प्राकृतिक संसाधनों की नीलामी, सरकारी नौकरियों पर प्रतिबंध तथा मनरेगा, सामाजिक सुरक्षा और हर तरह की सबसीडी में कटौती... सूची अन्तहीन है, सुधारों का घोड़ा सरपट दौड़ रहा है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि सटोरिया पूँजी के मालिक, मुट्ठी-भर वित्तपतियों द्वारा संचालित मौजूदा विश्व व्यवस्था वस्तुतः एक चिरन्तन अव्यवस्था है। संकट इसका अन्तर्निहित लक्षण है। पूँजीवादी अर्थशास्त्री आर्थिक संकट और उसके नतीजे, मसलन रोजगार में ठहराव, आमदनी में गिरावट और बढ़ती विषमता को स्वीकार करते हैं। लेकिन इसके असली कारणों से आँख चुराते हैं। पूँजीवादी नीति निर्माता 2008 के संकट के कारणों और समाधान को लेकर गम्भीर नहीं हैं। 1929 की महामन्दी के समय जॉन मिनियार्ड कीन्स ने पूँजीवादी दायरे में संकट को टालने के उपाय सुझाये थे और उस दौर के पूँजीवादी शासकों ने भी झक मारकर 'कल्याणकारी राज्य' की नीतियाँ लागू की थीं। आज के संकटकाल में ऐसा कोई पूँजीवादी दार्शनिक या राजनेता नहीं है जो तात्कालिक रूप से सही, इस व्यवस्था को संकट से बाहर निकालने का प्रयास करे।

यह सही है कि वर्ग समाज में कोई भी वर्ग, उस वर्ग का राजनीतिक प्रतिनिधि और उस वर्ग का दार्शनिक अपने ही वर्गीय हितों की रक्षा का कार्य करते हैं। लेकिन इस मामले में तीनों के रुख अलग-अलग होते हैं। वर्ग केवल अपने तात्कालिक और संकीर्ण हितों को देखता है। राजनेता उससे आगे की सोचता है और उसी के अनुरूप नीतियाँ बनाता है। इसलिए वह अपने वर्ग को दूरगामी हितों के लिए तात्कालिक और छोटे-मोटे स्वार्थ त्यागने की सलाह देता है। दार्शनिक (अर्थशास्त्री, विचारक, सलाहकार) उस वर्ग के हितों को दीर्घकालिक भविष्य तक सुरक्षित करने का नक्शा तैयार करता है और ऐसी नीतियों का विरोध करता है जो उस वर्ग के तात्कालिक स्वार्थों के चक्कर में उसके अस्तित्व को ही खतरे में डाल दें। इन्हीं आंशिक क्रियागत फर्कों के चलते एक ही वर्ग के लोगों, उनके नेताओं और उनके दार्शनिकों के बीच टकराव भी होते हैं।

संकट के मौजूदा दौर में पूँजीपति वर्ग, उसके नेताओं और दार्शनिकों के बीच दायित्व और कर्तव्य का यह फर्क मिट-सा गया है। संकट से निजात पाने के लिए उनकी ओर से किसी गम्भीर प्रयास का न होना इसी सच्चाई को दर्शाता है। यह विनाशकारी है क्योंकि तात्कालिक हित के चक्कर में पूँजीपति वर्ग का दूरगामी हित और अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाना सुनिश्चित है।

आज पूँजीवाद के पतनशील दौर में भारत सहित पूरी दुनिया के शासक वर्ग इसी विकट स्थिति का सामना कर रहे हैं। किसी भी देश की संसद में विराजमान लोगों की स्थिति देख लें, किसी बड़े प्रतिष्ठान के पूँजीवादी विद्वान की खूबियों पर नजर डाल लें, संकट के विद्रूप का मूर्त रूप आपके सामने होगा। दुनिया के कई देशों में चरम दक्षिणपंथी पार्टियों का सत्ता में आना, जनविरोधी सर्वसत्तावादी-अधिनायकवादी प्रवृतियों का बढ़ना तथा क्षणजीवी और निकटदर्शी नजरिये से संचालित होना पूँजीवाद की इसी

पतनशीलता को दर्शाता है।

दुनिया-भर में पूँजीपति वर्ग अपने मुनाफे को बरकरार रखने के लिए धरती, इस धरती पर रहनेवाले जीव-जन्तुओं, पेड़-पौधों और मानव जाति के विनाश की कीमत पर बर्बर लूट मचाये हुए है। उसके राजनेता अब तक के इतिहास के सबसे गये-गुजरे और नाकारा साबित हुए हैं, जो अपने वर्ग के कुकृत्यों को आँख मूँदकर सुचारू रूप से चलाते रहने को राजी हैं। जहाँ तक पूँजीपति वर्ग के दार्शनिकों का सवाल है, वह एक विलुप्त प्रायः श्रेणी हो गया है।

पिछले छः वर्षों का अनुभव बताता है कि संकट से बचने के लिए वही उपाय किये गये जो संकट के मूल कारण थे– अर्थव्यवस्था को वास्तविक उत्पादक गतिविधियों से उत्तरोत्तर काटना और वित्तीयकरण में लगातार बढ़ावा देना, बेतहाशा कर्ज और सट्टेबाजी को प्रोत्साहित करना। दुनिया-भर में निजीकरण, पूँजी बाजार का अनियंत्रण, सट्टेबाजी, टैक्स में छूट और सरकारी खर्च में कमी जैसी नवउदारवादी नीतियों की आँधी चलायी जा रही है। सस्ते कर्ज के द्वारा वित्तीय पूँजी और फर्जी वित्तीय कम्पनियों को बढ़ावा देने का ही नतीजा है कि पिछले दो वर्षों में सट्टेबाजी में लगनेवाली हेज फण्ड जैसी परिसम्पत्तियों में 30 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी हुई है। दुनिया-भर का कर्ज 1,58,800 अरब डॉलर हो गया है। बेहिसाब कर्ज देने का नतीजा है कि पिछले पाँच वर्षों में 43 विकासशील देशों के कर्ज में 60 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी हुई है। जाहिर है कि यह उन देशों को कर्ज जाल में फँसायेगा और कर्ज भुगतान के बढ़ते बोझ के चलते सराकरी खर्चों में कटौती की जायेगी, जिससे वहाँ की बहुसंख्य आबादी पहले से भी बदतर गरीबी, भुखमरी, कुपोषण और बीमारी के नरक में धकेली जायेगी। दूसरी ओर उच्च वर्ग के मुट्ठी-भर लोगों की आमदनी और उपभोग को बढ़ाया जा रहा है, जबकि बहुसंख्य मेहनतकश को बाजार से बहिष्कृत किया जा रहा है। इसके कारण उत्पादक कार्रवाइयों का सिकुड़ना लाजमी है। कुल-मिलाकर ये सभी उपाय ठहराव को तोड़ने के बजाय सट्टेबाजी के बुलबुले को फुलाने और नये-नये संकटों को बुलावा देनेवाले हैं।

पूँजीवाद का मौजूदा संकट सर्वग्रासी और सर्वव्यापी है। मानव जीवन का कोई भी पहलू– सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक, इस संकट की मार से अछूता नहीं है।

विडम्बना यह कि नवउदारवाद के जिन समर्थकों ने 25 साल पहले अहंकार और उद्धततापूर्वक 'पूँजीवाद का कोई विकल्प नहीं' का उद्घोष किया था, वे ही अब 'पूँजीवादी संकट का कोई विकल्प नहीं' की बात कह रहे हैं। मरणासन्न पूँजीवाद के प्रतिनिधियों के पास सचमुच इस रोग का कोई इलाज नहीं है।

क्या पूँजीवादी लूटतंत्र और पूँजीवादी ढाँचागत संकट का कोई विकल्प नहीं? विकल्प है– और इस दिशा में दुनिया-भर में प्रयास जारी है। आज भी पूँजीवाद के गढ़ अमरीका के 200 से भी अधिक शहरों में अश्वेत लोगों का आन्दोलन तथा न्यूनतम मजदूरी और यूनियन बनाने की माँग को लेकर मजदूरों का संघर्ष चल रहा है। पूरब से पश्चिम तक, उत्तर से दक्षिण तक लोग इस परजीवी, अमानवीय और अनैतिक व्यवस्था के खिलाफ एकजुट हो रहे हैं। दुनिया की बहुसंख्यक मेहनतकश जनता समता और न्याय पर आधारित समाज व्यवस्था चाहती है, इसमें कोई दो राय नहीं। यह भी कटु सत्य है कि आज सामाजिक परिवर्तन की मनोगत शक्तियाँ जितनी बिखरी हुई हैं, जितनी भ्रमग्रस्त हैं, उतनी पहले कभी नहीं थीं। लेकिन हमेशा यही स्थिति नहीं रहेगी। इतिहास में हर समस्या अपना समाधान लेकर ही आती है।

## पाठकों से अपील

**'देश-विदेश' अंक 19 आपके हाथ में है। हमारा प्रयास है कि इसे अनियतकालीन पत्रिका की जगह हर तीन माह पर नियमित प्रकाशित किया जाय।**

**❑ जिन साथियों को पत्रिका निरन्तर डाक से भेजी जा रही है, वे कृपया सूचित करें कि उन्हें पत्रिका मिल रही है या नहीं और उन्हें आगे से भेजी जाय या नहीं।**

**❑ देश-विदेश अव्यवसायिक पत्रिका है। यह साथियों के श्रम और सहयोग से ही प्रकाशित होती है। आर्थिक संकट से जूझते हुए अब तक हमने 19 अंक निकाले। पाठकों के सहयोग से ही यह सम्भव हो पाया।**

**❑ पत्रिका अभी भी अनियमित है, इसलिए नियमित चन्दे की दर तय करना सम्भव नहीं। डाक से मँगवाने के लिए 5 अंकों की सहयोग राशि 100 रुपये या आजीवन सदस्यता न्यूनतम 1000 रुपये निम्न लिखित बैंक खाते में अन्तरित करें। और इसकी सूचना एसएमएय या ई मेल से भेज दें।**

**नाम : अतुल कुमार गुप्ता**
**S/B A/c : 601510100024041**
**IFSC : BKID 0006015**
**बैंक ऑफ इण्डिया,**
**जी.टी. रोड़, शाहदरा, दिल्ली-32**

**मनी ऑर्डर भेजने का पता है–**
**अतुल कुमार गुप्ता**
**1/4649/45 बी, गली न. 4,**
**न्यू मॉर्डन शहादरा**
**दिल्ली- 110093**

**❑ पत्रिका के नये पाठक बनाने और इसके प्रचार-प्रसार में आपका सहयोग जरूरी है।**

# भोपाल गैस काण्ड के तीस वर्ष

**-दिगम्बर**

**दुनिया की सबसे** विनाशकारी औद्योगिक दुर्घटनाओं में से एक-- भोपाल गैस काण्ड के तीस वर्ष बीत गये। 3-4 दिसम्बर, 1984 की वह भयावह रात आज भी करोड़ों भारतवासियों के सीने में दुःस्वप्न की तरह समायी हुई है। उस रात अमरीकी कम्पनी यूनियन कार्बाइड ने जहरीली गैस-- ''मिथाइल आइसो सायनाइड'' से हजारों लोगों को मौत के घाट उतार दिया था और लाखों लोगों को बीमार और अपंग बना दिया था।

उस रात यूनियन कार्बाइड के भोपाल स्थित कीटनाशक कारखाने से 27 टन जहरीली दम घोटनेवाली मिथाइल आइसो सायनाइड गैस का रिसाव हुआ। अगले 48 घंटों में आस-पास के लगभग 10,000 लोग उस जहरीली गैस के कारण दम घुटने से मारे गये। लाखों लोग लँगड़े-लूले या अंधे हो गये, जिनमें से बहुतेरे फिर कभी ठीक नहीं हो सके। गैस के घातक प्रभावों से अभी तक 20 हजार से ज्यादा जानें जा चुकी हैं और 2.5 लाख से ज्यादा लोग स्थायी विकलांगता या असाध्य रोगों के शिकार हो चुके हैं (भारतीय चिकित्सा शोध परिषद)।

भोपाल गैस काण्ड का कहर अभी थमा नहीं है। आज भी हजारों टन रासायनिक कचरा उस जानलेवा फैक्टरी के परिसर में पड़ा है। इस कचरे में जहरीले कीटनाशकों के साथ-साथ सीसा, पारा और क्रोमियम जैसे तत्त्व भी हैं, जो हवा और पानी में लगातार जहर घोल रहे हैं। इसी का नतीजा है कि गैस रिसाव से प्रभावित इलाकों में महिलाओं का अचानक गर्भपात होना, माँ के दूध में जहर घुलना, नवजात बच्चों में आँख, त्वचा या फेंफड़े की बीमारी होना, दिमाग सही ढंग से काम न करना और कैंसर जैसी बीमारियाँ तेजी से फैल रही हैं। एक आकलन के मुताबिक 2002 में हर रोज चार हजार से अधिक गैस पीड़ित भोपाल के अस्पतालों में इलाज के लिए जाते थे। 2005 में ऐसे रोगियों की संख्या बढ़कर 6000 हजार हो गयी।

इस त्रासदी के शिकार लोग और उनके परिजन दारुण दुःख सहते हुए आज तक अपनी जीवन-रक्षा के लिए लड़ रहे हैं और हजारों लोग हत्यारी कम्पनी और सरकार से मुआवजा पाने के लिए न्याय की गुहार लगा रहे हैं। दूसरी ओर हमारे देश में इन तीस वर्षों के दौरान जिस भी पार्टी या गठबन्धन की सरकार सत्तासीन हुई उसने विदेशी पूँजी को भारत बुलाने के लिए लाल कालीन बिछाने का काम किया। 'निवेश के अनुकूल माहौल बनाने' के नाम पर विदेशी पूँजी के लिए अधिक से अधिक सहूलियतें देने और भारतीय कानून को लचीला बनाने में सभी सराकरें एक-दूसरे को मात देती रही हैं।

प्रधानमंत्री मोदी ने 'मेक इन इण्डिया' के जिस नारे के साथ विदेशी पूँजी को रिझाने की मुहिम छेड़ी है, उसका ही आदर्श रूप है-- यूनियन कार्बाइड। इस अमरीकी बहुराष्ट्रीय कम्पनी ने जिस हादसे को जन्म दिया और उसके मालिकों के प्रति हमारे शासकों ने जैसा शर्मनाक समर्पण किया, उस पर गौर करना जरूरी है। यह इसलिए भी जरूरी है कि पिछले 30 वर्षों के दौरान देश में जिन नवउदारवादी नीतियों को लागू किया गया और जिस तेजी से यह सिलसिला आज भी जारी है, उसके चलते आनेवाले दिनों में यूनियन कार्बाइड जैसी विदेशी कम्पनियों पर अंकुश लगने की तो बात ही क्या, उनके और अधिक बेलगाम होने की ही सम्भावना है।

भोपाल में कारखाना लगाने से पहले कम्पनी ने इस बात की पूरी जाँच-पड़ताल करने की जरूरत नहीं समझी कि उसमें प्रयुक्त तकनीक पूरी तरह सुरक्षित भी है या नहीं। पूरी तरह सुरक्षित तकनीक न होने के कारण सम्भावित ''खतरों'' से बचाव के लिए ''लगातार निवेश की जरूरत'' को तो खुद कम्पनी के डायरेक्टरों की सालाना रिपोर्ट, पूँजी बजट मेमो, 1973 में ही स्वीकार किया गया था। बावजूद इसके कम्पनी ने दुर्घटना से बचाव के लिए कोई इन्तजाम नहीं किया। उलटे उसने सरकार के सामने यह झूठा दावा पेश किया कि ''कारखाने का डिजाइन, उसके निमार्ण, चलाने और उसकी मरम्मत के काम में सुरक्षा के लिहाज से मौजूद सर्वोत्तम तकनीक'' संयंत्र में इस्तेमाल की गयी है। सरकार ने इस झूठ (भोपाल जिला कोर्ट में भारत सरकार का हलफिया बयान, 5 सितम्बर, 1986) को चुपचाप स्वीकार भी कर लिया।

कारखाना लगने के बाद से ही जहरीली गैस के रिसाव के कारण कई मजदूरों की जाने गयीं। इससे बहुत से लोगों का ध्यान मौत के इस कारखाने की ओर गया। 1982 में पत्रकार राजकुमार केसरवानी ने इस खतरे से आगाह करते हुए मुख्यमंत्री को पत्र लिखा। उन्होंने अखबारों में लिखा कि ''मानवता के विरुद्ध एक घृणित षडयंत्र चल रहा है। अपनी-अपनी धुन में डूबे लोग मौत से बेखबर हैं। जिनको खबर है, वे चुप हैं। मौत दबे पाँव आगे बढ़ती जा रही है। भोपाल सो रहा है, फिलहाल अगली सुबह तक के लिए और किसी दिन शायद वह अगली सुबह न जाग सके।'' मजदूर संघों और पत्रकारों के प्रयासों से जब यह मामला विधानसभा में उठा तो श्रममंत्री ने यूनियन कार्बाइड का पक्ष लेते हुए कहा कि, ''यह कारखाना 1969 में लगा है और इसमें 25 करोड़ की लागत लगी है। यह कोई छोटा-सा पत्थर नहीं है कि इसको उठाकर किसी दूसरी जगह रख दूँ। इसका पूरे देश से सम्बन्ध है। ऐसा भी नहीं है कि भोपाल को इससे कोई बहुत बड़ा खतरा पैदा हो गया है और न ही ऐसी कोई सम्भावना है।'' लेकिन दो सालों बाद ही भोपाल लाशों से पट गया।

जब अदालत ने कम्पनी के डायरेक्टर वारेन एण्डरसन की गिरफ्तारी के लिए वारण्ट

जारी किया तो भारत सरकार ने शत्रु-सहयोगी की भूमिका निभायी। सरकार ने गिरफ्तारी वारण्ट से बचाने के लिए उसे सरकारी अतिथिगृह में ठहराया और एक विशेष विमान से उस अपराधी को अमरीका भेज दिया। इतना ही नहीं भारत आने-जाने के लिए इस दुर्दान्त अपराधी कम्पनी को दी गयी मल्टीपल एण्ट्री वीसा की सुविधा तो अभी तक रद्द नहीं की गयी है।

अगस्त 2000 में दिये गये अपने एक निर्णय में खुद अमरीका की अपील कोर्ट तक ने यह माना था कि यह मामला पूरी तरह ''भारतीय सरकार और न्यायालय के अधिकार क्षेत्र'' में आता है और कम्पनी के भगोड़े के कुकृत्यों और उसके द्वारा न्यायालय की अवमानना के लिए कानूनी कार्यवाही भारत में ही करनी चाहिए। लेकिन भारतीय न्यायालय और भारत सरकार तो 1992 में ही कम्पनी को ''मानव वध'' के ''अपराधिक'' मुकदमें का भगोड़ा घोषित करके अभय दान दे चुकी थी। इस पूरे प्रकरण में सरकारी मशीनरी, मंत्री, नौकरशाह, न्यायालय की मिलीभगत इतनी साफ है कि कोई अंधा आदमी भी उसे देख सकता है।

सरकार ने ''भगोड़ों'' की सम्पत्ति भी कुर्क या जब्त नहीं की। 1994 तक फैक्टरी यूनियन कार्बाइड के अधिकार में ही बनी रही। इन दस सालों में कम्पनी ने अपने जर्जर गोदामों में भरे पड़े विषैले रासायनिक कचरे को ठिकाने लगाने की भी कोई व्यवस्था नहीं की। विषैला कचरा दबाने के 11 गढ्ढ़ों और उसका पानी सुखाने के दो गढ्ढ़ों में भरे 3500 टन कचरे को ढकने की भी कोई व्यवस्था नहीं की गयी। नतीजतन यह खुला जहर बरसाती पानी के साथ घुलकर आज जमीन के नीचे के पानी को प्रदूषित कर चुका है। कम से कम 20 हजार नागरिक इसके सीधे शिकार हुए हैं। यह जहर किस कदर फैल चुका है, इसका अन्दाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि विषैला ''कारसीनोजन रसायन'' पानी में विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा निर्धारित सीमा से 1700 गुना अधिक मात्रा में मौजूद है। लोग वर्षों से यही जहरीला पानी पी रहे हैं जिसके कारण माँ के दूध तक में उसका असर आ गया है।

भोपाल गैस काण्ड की 20वीं बरसी के कुछ ही महीने बाद इसी कम्पनी के नये अवतार डॉव केमीकल्स को ''इण्डियन ऑयल कॉर्पोरेशन'' के पानीपत संयंत्र में ''मोनो एथिलीन ग्लाइकोल'' बनाने की इकाई लगाने का सरकार ने लाइसेंस दिया था, जिसे भारी विरोध के बाद रद्द कर दिया गया।

नयी नामधारी डॉव कैमिकल्स कितनी साधु प्रवृत्ति की है? वह खुद ही ऐलान कर चुकी है कि उसका यूनियन कार्बाइड के पीड़ितों के प्रति देनदारियों से कोई वास्ता नहीं है, वह भारतीय कानून के दायरे में नहीं आती। यहाँ तक कि उसने जहरीला कचरा निपटाने से भी इन्कार कर दिया।

भोपाल के हजारों बेगुनाह लोगों की मौत और नारकीय दुर्दशा के लिए सिर्फ यूनियन कार्बाइड ही नहीं, हमारे देश की जनद्रोही सरकार और अफसरशाही भी जिम्मेदार रही है जिसने जानबूझकर सुरक्षा के इन्तजामों को नजरअंदाज किया, दुर्घटना के बाद हत्यारों को पनाह दी और भागने में उनकी मदद की। आज भी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को रिझाने के लिए 'मेक इन इण्डिया' का नारा दिया जा रहा है और इसके लिए भारतीय कानूनों को विदेशियों के हित में नरम बनाया जा रहा है।

अगर हम अब भी सावधान नहीं होते और लड़ना शुरू नहीं करते तो देशी-विदेशी कम्पनियों, मंत्रियों और नौकरशाहों का यह गठजोड़ हमें मौत और गुलामी के शिकंजे में जकड़ता चला जायेगा।

# भोपाल नरसंहार – दोषी कौन?

**इस दुर्घटना के** लिए यूनियन कार्बाइड, उसके वर्तमान मालिक डॉव केमिकल और वारेन एण्डरसन, जो 30 साल पहले कार्बाइड का निदेशक था और इसी वर्ष 92 साल की उम्र में मरा, ये तीनों ही प्रत्यक्ष रूप से दोषी हैं।

लेकिन निश्चय ही इसके लिए कई दूसरे लोग भी काफी जिम्मेदार हैं- भारत का सर्वोच्च न्यायालय, जिसने भोपाल पीड़ितों के लिए बहुत ही कम मुआवजे पर समझौता कराया। भारतीय संसद जिसने विचित्र भोपाल कानून पास किया, ताकि अमरीकी अदालत पर पीड़ितों का मामला हाथ में लेने के लिए तथाकथित (सफलतापूर्वक) दबाव बनाया जा सके, जबकि भारत सरकार खुद ही अपने नागरिकों के लिए मुकदमा लड़नेवाली वादी बन गयी। मध्य प्रदेश सरकार जिसने घनी आबादीवाले शहर के निकट बेहद खतरनाक खाद का कारखाना लगाने की अनुमति दी। भोपाल और मध्य प्रदेश के अधिकारी जो उस कारखाने का नियमित रूप से निरीक्षण करने में असफल रहे तथा उस कारखाने को चलाने और देख-रेख करने के लिए पर्याप्त सुरक्षा और प्रशिक्षण के मानकों को सुनिश्चित करने में असफल रहे। पीड़ितों के वकील जो 30 वर्षों तक उनको सुनहरे सपने दिखाते रहे। भोपाल अस्पताल के अधिकारी जिन्होंने एक जर्मन डॉक्टर को सायनाइड के जहर से प्रभावित 50,000 लोगों को विषहर दवा पिलाते हुए पकड़ा और उसे वापस डुसेलडोर्फ भेज दिया, क्योंकि उन्हें यह डर था कि जब लोगों को पता चलेगा कि कारखाने में सायनाइड से मिलता-जुलता जहर बनता था, तो खलबली मच जायेगी। भोपाल के एक न्यायाधीश, जिन्होंने 1994 में मेरे सामने शेखी बघारते हुए कहा था कि उन्होंने हर पीड़ित को मुआवजे की राशि बाँटने में 60 सेकण्ड से ज्यादा समय नहीं लगाया और यह खयाल भी नहीं रखा कि कुछ राशि अनुवांशिक क्षति के लिए भी अलग रखें। भूतपूर्व ब्रिटिश महाधिवक्ता सर इयान परसिवल, जो लन्दन चैरिटेबल ट्रस्ट के सर्वेसर्वा थे, जिन्होंने भोपाल में चिकित्सा राहत प्रदान की। 1998 में मरने से ठीक पहले इयान ने अपने लन्दन कार्यालय को सजाने-सँवारने पर 10 करोड़ रुपये खर्च किये, खुद को ट्रस्टी फीस की भारी रकम का भुगतान किया और अपने लिए यात्रा और कार्यालय का खर्च भी वसूल किया।

यह सूची अभी पूरी नहीं हुई है, लेकिन इससे आपको कुछ तो अन्दाजा लग ही जायेगा।

***(अर्मिन रोंसेनक्रान्ज, कानून और लोकनीति के प्रोफेसर हैं। यह टिप्पणी 'द हिन्दू' से आभार सहित।)***

# अपराध, लेकिन सजा नहीं

## -न्यायमूर्ति वी. आर. कृष्णा अय्यर

***4 दिसम्बर को न्यायमूर्ति वी. आर. कृष्णा अय्यर का देहान्त हो गया। पिछले महीने उनका 100वाँ जन्म दिन मनाया गया था। वे जीवन-भर न्याय और समानता के लिए संघर्षरत रहे। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में उन्होंने कई ऐतिहासिक फैसले दिये और सेवानिवृत्ति के बाद दलित-शोषित जनता के अधिकारों के पक्ष में आवाज उठाते रहे। नवउदारवादी आर्थिक नीतियों का उन्होंने मुखर विरोध किया। 2002 में गुजरात दंगे की जाँच के लिए गठित नागरिक समिति में वे न्यायमूर्ति पी. बी. सामन्त के साथ शामिल थे। सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक मुद्दों पर उनकी बेबाक राय तीन-चार पीढियों के लिए प्रेरणा स्रोत रही।***

***यह लेख न्यायमूर्ति कृष्णा अय्यर ने अब से 4 साल पहले भोपाल त्रासदी पर आये फैसले की समीक्षा करते हुए लिखा था। यह लेख उनके सरोकार, चिन्तन और लेखन का जीवन्त उदाहरण है। हम देश-विदेश की ओर से उन्हें विनम्र श्रद्धान्जलि देते हुए, उनको याद करते हुए, उनका यह लेख प्रकाशित कर रहे हैं।--सम्पादक***

**भोपाल महा-अपराध** मुकदमा खत्म हो गया। बर्बरता का अन्त एक हल्की सजा में हुआ, जबकि उससे पीड़ित लोगों की संख्या का कोई अन्त नहीं है। यूनियन कार्बाइड इण्डिया लिमिटेड के आठ अधिकारियों को दोषी ठहराया गया और दो-दो साल सश्रम कारावास की सजा हुई।

जो अभियोग लगाया गया था, न्यायाधीष ने उसके लिए अधिकतम सम्भव सजा दी है। सर्वोच्च न्यायालय ने अभियोग को घटा दिया था- इसे 'नरसंहार, जो हत्या के बराबर नहीं' की जगह, आपराधिक लापरवाही जो हत्या के बराबर नहीं' कर दिया था।

दोषी बहुराष्ट्रीय निगम जो अमरीका में स्थित था या उसे खरीदनेवाली कम्पनी 'डॉव कैमिकल्स' या उसका अध्यक्ष वारेन एण्डरसन अब इस दृश्यपटल पर कहीं नहीं हैं। इस हृदय विदारक रिहाई को इस प्रकार अलंकृत किया गया-- ''इस समझौते के तहत भोपाल आपदा से उत्पन्न अतीत, वर्तमान और भविष्य के सभी दावों के पूर्ण और अन्तिम निपटारे के लिए यूनियन कार्बाइड भोपाल पीड़ितों के एवज में भारत सरकार को 47 करोड़ डॉलर का भुगतान करने को राजी है। समूची रकम को 31 मई 1989 तक चुका देना होगा। साथ ही, समझौते को सुगम बनाने कि लिए सर्वोच्च न्यायालय ने अपने विशेष न्यायाधिकार का प्रयोग किया और दीवानी, फौजदारी और न्यायालय की अवमानना सम्बन्धी उन सभी कार्यवाहियों को समाप्त कर दिया जो भोपाल आपदा से पैदा हुई थी और अधीनस्थ भारतीय अदालतों में लम्बित पड़ी थी।''

भारत में जीवन का अधिकार मूलभूत अधिकार है। इसलिए यह विराट नरसंहार, इतिहास का निकृष्टम औद्योगिक हत्याकाण्ड, इस मौलिक अधिकार पर एक बहुत बड़ा कलंक है। बिना सम्भावित खतरों का परीक्षण किये, एक बिना जाँचा-परखा उपकरण भारत में स्थापित कर दिया गया, मानो वह कोई सोडा फैक्ट्री हो। फैक्ट्री की स्थापना अपने आप में ही एक आपराधिक कार्रवाई थी।

लेकिन भारत महज गोरे अमरीकियों का भूरा उपनिवेश है। अगर अमरीका का मामला हो तो हमारे यहाँ अन्तरराष्ट्रीय कानून और दण्डात्मक न्यायशास्त्र का विलोप हो जाता है। यह महाविपत्ति 1984 के दिसम्बर में आयी थी। भारतीय न्यायालयों के लिए यह ऐसा बड़ा मामला नहीं था कि वे उसे हाथ में न ले सकें। लेकिन भारत के मुख्य न्यायाधीश और एक मशहूर वकील ने शर्मनाक तरीके से यह राय दी कि भारतीय न्याय व्यवस्था ऐसे विराट अपराध का फैसला करने में कई जिन्दगियाँ लगा देगी, इसलिए यह मुकदमा अमरीकी अदालत में चलाना ही बेहतर होगा।

आमतौर पर किसी भी निगम का निदेशक कोई भी अपराध व्यक्तिगत रूप से खुद नहीं करता/करती। ऐसे अपराध शायद उसकी जानकारी के बिना ही, लेकिन उसके जानबूझकर आँख मूँद लेने के चलते और प्रतिनिधिमूलक जानकारी में होते हैं। इसके बावजूद दण्डात्मक न्यायशास्त्र के एक उच्चतर आयाम में उन्हें अपराधी ठहराया जाता है।

निगमों के अपराधों और दोषों के लिए अभियोग का यही आधार है। यह दलील देना कि यूनियन कार्बाइड या एण्डरसन ने खुद अपने हाथ से उस उपकरण को चालू नहीं

किया या जिस कारण से गैस रिसाव हुआ उस गलत-सही कार्रवाई के लिए जिम्मेदार नहीं है, उनके निर्दोष होने का तर्क नहीं है। लेकिन यदि इस तरह का उपकरण नहीं लगाया जाता, तो इतने लोगों की मौत नहीं होती। यदि नाभिकीय संयंत्र लगाया जाता है और उसके विस्फोट होने से हजारों लोग मारे जाते हैं, तो जिन लोगों ने उसे लगाया और चलाया, वे ही प्रतिनिधि रूप से अपराधी हैं, अपराधी दिमाग के चलते नहीं बल्कि नैतिक और कानूनी तौर पर। इस वृहद अर्थ में कार्बाइड और एण्डरसन को ढेर सारे सवालों का जवाब देना है। लेकिन वे भारत में, एक डॉलर उपनिवेश में थे, और इसलिए उन पर अभियोग लगाने की कार्रवाई को निष्पादित नहीं किया गया, इसे शुरू करना अभी बाकी है।

सवाल यह है कि क्या भारत सरकार एण्डरसन के प्रत्यर्पण की माँग का साहस करेगी और कार्बाइड या उसे खरीदनेवाली कम्पनी पर मुकदमा चलायेगी? क्या इस मुकदमे के निपटारे की कोई निश्चित समय सीमा होगी, जबकि छोटे अधिकारियों और छोटे अपराध के लिए 25 सालों तक मुकदमा चलता रहा? और यह मुद्दा कि सरकार ने एक अनैतिक समझौते के जरिये पैसा लिया है, न्यायशास्त्र का कोई भी सिद्धान्त किसी भी सरकार को इस बात की इजाजत नहीं देता कि बिना पीड़ित लोगों की जानकारी के देश का माई-बाप होने का ढोंग करते हुए वह इतने बड़े अपराध का निपटारा कर ले। यदि राजसत्ता भ्रष्ट तरीके से पैसे ले सकती है और अपने नागरिकों की हत्या की भरपाई कर सकती है तो हमारा न्यायशास्त्र अवज्ञा का पात्र है। इस तरह की कार्रवाई प्राचीन धर्म तथा आधुनिक सिद्धान्तों और मूल्यों के विरूद्ध है, जो जीवन को मोलभाव से ऊपर मानते हैं। भारतीय लोगों का जीवन इतना सस्ता है कि सौदेबाजी करके इसकी अदला-बदली की जाय। यूनियन कार्बाइड और एण्डरसन जैसे महा-अपराधियों ने मुकदमें का सामना नहीं किया जो भारतीय दण्ड संहिता की धारा 304 के अभियुक्त रूप में और उनके वास्तविक अपराध के लिए जरूरी था। इस बात पर काफी उत्तेजना है कि 'हर कीमत पर न्याय' का दिवाला पिट गया। जब ऐसे निगम से सम्बन्धित व्यक्तियों या अन्य सत्ताधीन व्यक्तियों के प्रातिनिधिक कार्रवाई के परिणामस्वरूप इतने बड़े पैमाने की आपदा हो, जिन्होंने मुकदमें का सामना नहीं किया हो, तो एक आपदा जिम्मेदारी कानून भी मौजूद है। यहाँ बचाव का कोई रास्ता नहीं है और कोई पूर्ववर्ती मुकदमा भी अपराधी को दोषमुक्त नहीं कर सकता। छोटे अपराधियों को दण्डित करने के लिए भारी शोर-गुल मचाया जाता है। लेकिन जब ताकतवर लोगों द्वारा घातक हथियारों से दैत्याकार अपराधों को अंजाम दिया जाता है, तो क्या उन्हें छोड़ देना चाहिए? यह कानून को अनैतिक, अमानवीय और अन्यायकारी बना देगा।

कानून का कोई भी सिद्धान्त (हिटलरी तानाशाही को छोड़कर) किसी भी राजसत्ता को यह अधिकार नहीं दे सकता कि वह हत्यारे से पैसा लेकर अपने नागरिकों की जान को बट्टे-खाते में डाल दे। ऐसा कोई भी पाशिवक शासन दूसरे देशों के लिए देश पर आक्रमण करने, कब्जा जमाने और नागरिकों की जान लेने का आधार प्रस्तुत करेगा।

भोपाल के लिए शायद कुछ इसी तरह भुगतान किये गये हैं। भारत में या किसी भी दूसरे देश में कानून का ऐसा कोई लिखित पाठ मौजूद नहीं है, जिसके तहत यदि 'अ' की हत्या 'ब' द्वारा की गयी है तो सरकार कुछ रकम लेकर बदले में मुकदमों और दावों को वापस ले ले। भारत जैसे अधिक आबादीवाले देश में, जब भी हत्या की कोई घटना हो तो दावे का निपटारा करने के लिए सरकार कोई रकम ले लिया करे और इसी से अपने घाटे की पूर्ति किया करे! अगर यही कानून है तो बुद्ध और गाँधी का जन्म अकारथ है।

अनगिनत लाशों के ऊपर, न्यायाशास्त्र का एक अन्यायपूर्ण सिद्धान्त प्रस्तुत किया जा रहा है- अपराध बिना दण्ड के, चाहे जितना भी संगीन अपराध क्यों न हो। इस बीच बिना किसी मानवतावादी भावना के, बर्बरता से संचालित होते हुए सरकार इस अपराध का निपटारा करती है। मानवता का लेश मात्र भी नहीं बचा जब वह एक खूनी समझौते के तहत पैसा ले लती है और एक ऐसे शानदार अस्पताल का निर्माण करती है जहाँ गरीबों की कोई पहुँच नहीं है।

राल्फ नडार ने अपनी पुस्तक *अमरीका इन कॉरपोरेट* की सशक्त भूमिका में विशालकाय निगमों द्वारा चुनौती दिये जाने पर न्याय प्रणाली की असंवेदनशीलता और अक्षमता के बारे में लिखा है-- ''निगम किस तरह कानून को अपने पास फटकने तक नहीं देते इसका सबसे स्पष्ट नमूना तब देखने को मिला जब निगम अपराध-लहर के सामने कानून को लकवा मार गया। अपराध के आँकड़े निगमों और पूँजीपतियों के अपराध को लगभग पूरी तरह नजरअन्दाज करते हैं। दस सबसे बड़े अपराधी (मोस्ट वाण्टेड) निगमों की कोई सूची नहीं है, निगमों के अपराध के नियमित आँकड़े जुटाने का कानून द्वारा कोई प्रयास नहीं किया जाता और निगमों के अधिकांश आपराधिक व्यवहार (जैसे प्रदूषण) को उनके विरोध के चलते अपराध ही नहीं माना जाता रहा है। उदाहरण के लिए ऑटो टायर, विकिरण और गैस पाइप लाईन के सुरक्षा मानकों की दुराग्रहपूर्वक और जानबुझकर अवहेलना किये जाने को मौजूदा कानूनों के तहत अपराध नहीं माना जाता, भले ही इसके चलते लोगों की जानें भी चली जाती हैं।

इस बारे में अब तक सबसे अच्छी उक्ति विन्सटन चर्चिल की है- ''अन्धकार युग वापस आ सकते हैं- प्रस्तर युग वापस आ सकते हैं, विज्ञान के चमकदार पंखों पर सवार होकर और जो आज मानवता के ऊपर अकूत भौतिक वरदानों की झड़ी लगा रहा है, वही उसके लिए पूरी तरह विनाश भी ला सकता है। सावधान, मैं कहता हूँ! हो सकता है कि समय बहुत कम रह जाय।''

यह भयावहता भारत में एक यथार्थ बनती जा रही है। हमें इस नयी नरसंहारक न्यायप्रणाली का प्रतिरोध करना होगा तथा यूनियन कार्बाइड और एण्डरसन पर एक नये अभियोग के जरिये मुकदमा चलाना होगा। भारत के संघ को इस हत्याकाण्ड के लिए बहुत सारे जवाब देने हैं।

हर कीमत पर न्याय होना चाहिए, भले ही आसमान टूट पड़े। कानून की एक अन्तरात्मा हो, यह बेहद जरूरी है।

***(द हिन्दू', 25 जून 2010 में प्रकाशित)***

# श्रम कानूनों में बदलाव : मजदूर वर्ग पर चौतरफा हमला

**-पारिजात**

**सत्ता सम्भालने से** लेकर अब तक प्रधानमंत्री मोदी लगभग एक चौथाई विश्व भ्रमण कर चुके हैं। इन यात्राओं के दौरान वे अपने भाषण की शुरुआत किसी नाटकीय जुमले से करते हैं और अन्त पूँजी निवेश के लिए श्रम कानूनों को लचीला बनाने के वादों से। चुनाव के वक्त जनता से किये गये वादों को भले ही उन्होंने कूड़े के ढेर में पटक दिया है, लेकिन देशी-विदेशी पूँजीपतियों से किये गये वादों को पूरा करने के लिए वे नीति-नियम, कायदे-कानून, संविधान हर उस चीज में बदलाव करने को तत्पर हैं जिससे पूँजीपतियों का मुनाफा घटता-बढ़ता है।

इसी के मद्देनजर 16 अक्टूबर को प्रधानमंत्री मोदी ने श्रम कानूनों में व्यापक बदलाव की घोषणा की है। 'श्रमेव जयते', नामक सजीले शीर्षक वाले कार्यक्रम में भले ही उन्होंने मजदूर को मजदूर न कहकर 'श्रम योगी', 'राष्ट्र योगी' या 'राष्ट्र निर्माता' की संज्ञा दी लेकिन इसकी आड़ में उन्होंने मजदूर वर्ग पर एक बड़े हमले की तैयारी कर ली है।

सरकार न्यूनतम मजदूरी अधिनियम 1948, कारखाना अधिनियम 1948, प्रशिक्षु (अप्रेंटिस) अधिनियम 1961, कुछ उद्यमों को रिटर्न भरने तथा रजिस्टर रखने से छूट सम्बन्धी अधिनियम 1988 तथा बाल श्रम उन्मूलन व नियमन अधिनियम में संशोधन करने का प्रस्ताव कर चुकी है।

न्यूनतम वेतन अधिनियम 1948 में जो बदलाव लाया जा रहा है उसमें राष्ट्रीय स्तर पर न्यूनतम वेतन की एक सीमा निर्धारित की जाने की बात है, जिसके लिए कोई मापदण्ड तय नहीं किया गया है। प्रस्तावित संशोधन के अनुसार केन्द्र सरकार प्रत्येक पाँच वर्ष बाद राष्ट्रीय स्तर पर तय होनेवाली न्यूनतम मजदूरी में संशोधन गजट में प्रकाशित उपभोक्ता खर्च के अनुसार कर सकती है। यानी महँगाई बढ़ने पर भी पाँच साल से पहले न्यूनतम मजदूरी में परिवर्तन करने के लिए केन्द्र और राज्य सरकार के पास कोई कानूनी शक्ति नहीं रह जायेगी।

इस बदलाव से घण्टे, दिन, महीने या लम्बे समय के काम की न्यूनतम मजदूरी दर तय करने सम्बन्धी सभी पिछले कानूनों को समाप्त कर दिया जायेगा। इसके अलावा 1,000 से कम मजदूर वाली औद्योगिक इकाइयों में न्यूनतम वेतन तय करने के केन्द्र या राज्य सरकार के अधिकार खत्म करना भी प्रस्तावित संशोधन के दायरे में है।

न्यूनतम वेतन तय करने के लिए अलग-अलग स्तरों पर सलाहकार समितियों या उपसमितियों के गठन का प्रस्ताव है। लेकिन इन समितियों/उपसमितियों में मजदूरों का कोई प्रतिनिधि शामिल नहीं किया जायेगा। यानी न्यूनतम वेतन बोर्ड गठन का काम पूँजीपतियों-उद्योगपतियों के जिम्मे ही छोड़ दिया गया है, जो राष्ट्रीय स्तर पर न्यूनतम वेतन का निर्धारण करेंगे। यह बिल्ली को दूध की रखवाली सौंपने के समान है।

कारखाना अधिनियम 1948 में संशोधन करके छोटी कम्पनियों या लघु उद्योग की परिभाषा को ही बदला जा रहा है। इस बदलाव के बाद शक्तिचालित कम्पनियों में 20 व हस्तचालित कम्पनियों में 40 से कम मजदूर होने पर उन्हें लघु उद्योग माना जायेगा जिन पर कारखाना अधिनियम कानून लागू नहीं होगा। पहले यह सीमा शक्तिचाालित उद्योगों के लिए 10 व हस्तचालित उद्योगों के लिए 20 मजदूर थी। कारखाना अधिनियम में बदलाव के चलते फैक्टरी मालिकों के मनमाफिक मजदूरों की छँटनी-भर्ती करने का अधिकार बढ़ जायेगा। आज ही यह हालत है कि 60-70 मजदूरोंवाली कम्पनियाँ भी शासन-प्रशासन व श्रम विभाग से साँठ-गाँठ कर खुद को लघु उद्योग घोषित करती रहती हैं। कानून बनाकर इस घपलेबाजी का दायरा बढ़ाना पूँजीपतियों-उद्योगपतियों को मोदी सरकार की ओर से 'अच्छे दिन' की एक और सौगात है।

फैक्टरी अधिनियम की धारा 56 में बदलाव के जरिये काम के घण्टे 8 से बढ़ाकर साढ़े दस घण्टे या 12 घण्टे तक करने का प्रस्ताव है। इसमें यह शर्त जरूर जोड़ दी गयी है कि बशर्ते राज्य सरकार काम के घण्टों में इस बढ़ोत्तरी से संतुष्ट हो। तमाम राज्य सरकारें अपने-अपने राज्यों में पूँजीपतियों के पक्ष में खड़ी हैं या मजदूरों के, यह कोई छिपी बात नहीं है, यहाँ तक कि मजदूरों की सरकार होने का दम भरनेवाली पश्चिम बंगाल की भूतपूर्व वामपंथी सरकार ने भी सिंगूर-नंदीग्राम में मचाये ताँडव से यह साबित कर दिया था कि वह किस तरफ खड़ी है। जाहिर है कि राज्य सरकारें इससे कभी असन्तुष्ट नहीं होंगी।

काम के घण्टे बढ़ाने के लिए अब तक जो प्रावधान थे उनके अनुसार मुख्य कारखाना निरीक्षक (चीफ इंस्पैक्टर ऑफ फैक्ट्रीज) की लिखित अनुमति से ही काम के घण्टों को बढ़ाया जा सकता था, जिसके लिए फैक्टरी मालिक और मजदूर, दोनों पक्षों के साथ समुचित निरीक्षण प्रक्रिया जरूरी थी। लेकिन प्रस्तावित संशोधन से ऐसी कोई बाध्यता नहीं होगी।

कारखाना अधिनियम की धारा 64 और 65 में प्रस्तावित संशोधन प्रति तिमाही ओवरटाईम की सीमा को 50 घण्टे से बढ़ाकर 100 घण्टे कर देगा जिसे तथाकथित ''सार्वजनिक हित'' में 125 घण्टे तक किया जा सकता है।

प्रस्तावित कारखाना अधिनियम में संशोधन कर काम के घण्टे बढ़ाये जाने से किसे फायदा होगा स्पष्ट ही है। प्रधानमंत्री मोदी के 'राष्ट्र योगी', 'कर्म योगी', 'श्रम

योगी' के हिस्से में हाड़तोड़ मेहनत, बेइन्तहाँ शोषण, खून-पसीने की आखिरी बूँद तक को निचोड़ा जाना और भयंकर दरिद्रता ही आयेगी।

कारखाना अधिनियम में प्रस्तावित एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन फैक्टरी मालिक को महिलाओं को रात की पाली में काम पर रखने का अधिकार देता है। पहले रात दस बजे से सुबह छः बजे तक महिलाओं को कारखाने में नहीं रोका जा सकता था। दिन के उजाले में महिलाओं के साथ होनेवाली यौन हिंसा, छेड़छाड़ और उत्पीड़न की हिंसक वारदातों की खबरें आती ही रहती हैं। प्रस्तावित संशोधन महिला हिंसा को बढ़ावा ही देगा। दूसरा, अभी भी पुरुष की तुलना में महिलाओं की मजदूरी कम होती है। महिला मजदूरों से रात की पाली में काम लेकर कारखाना मालिक मजदूरी पर खर्च घटाकर अपने मुनाफे में इजाफा करेगा।

प्रशिक्षु (अपरेंटिस) एक्ट 1961 में प्रस्तावित संशोधन पूँजीपतियों को मुफ्त का मजदूर उपलब्ध कराने के कारगर तरीके इजाद करता है। प्रस्तावित संशोधन के अनुसार सभी फैक्टरियों में प्रशिक्षु रखना अनिवार्य होगा। साथ ही फैक्टरी में प्रशिक्षु से किसी विवाद या उत्पीड़न की घटना पर प्रबन्धन को हिरासत में नहीं लिया जा सकेगा। इसकी जगह उस पर 500 रुपये का जुर्माना मात्र लगाया जायेगा।

प्रस्तावित संशोधन के तहत मजदूर की परिभाषा को ही बदला जा रहा है और ठेका मजदूरों, अस्थायी मजदूरों तथा दिहाड़ी मजदूरों को भी इसमें शामिल किया जा रहा है, ताकि प्रतिष्ठान में काम करनेवाले मजदूरों के अनुपात (न्यूनतम 30 प्रतिशत) में प्रशिक्षुओं की संख्या निर्धारित की जा सके। ऐसा कर फैक्टरी मालिकों को ठेका मजदूरों, अस्थायी और दिहाड़ी मजदूरों और यहाँ तक कि नियमित मजदूरों की जगह पर तुलनात्मक रूप से कम वेतन पानेवाले प्रशिक्षु मजदूर मिल जायेंगे, जिन्हें न्यूनतम वेतन का 70 प्रतिशत ही मिलता है। प्रशिक्षुओं के जरिये पूँजीपतियों को मुफ्त का मजदूर उपलब्ध कराने की सरकारी योजना अफ्रीका के उन गुलामों की याद दिलाती है जिन्हें निचोड़कर गुलामों के मालिकों ने आदिम पूँजी संचय किया था।

इसी तरह कुछ प्रतिष्ठानों को रिटर्न भरने और रजिस्टर रखने से भी छूट दी जा रही है। पहले इस दायरे में 10-19 मजदूरोंवाले उद्यम आते थे। प्रस्तावित सीमा बढ़ाकर 10 से 40 मजदूरों वाले उद्यमों तक कर दी गयी है।

यह तो जग-जाहिर कि रजिस्टर रखने तथा रिटर्न भरने में पूँजीपति कितना फर्जीवाड़ा करते हैं। प्रस्तावित संशोधन पूँजीपतियों को यह छूट देता है कि वे फर्जीवाड़ा करने में समय खर्च न कर मजदूरों का शोषण करने व मुनाफा बढ़ाने पर अपना ध्यान लगायें।

प्रक्रिया को सरल बनाने के नाम पर किये जा रहे इस संशोधन के चलते उद्योगपतियों को फैक्टरी कानून, वेतन भुगतान कानून, न्यूनतम वेतन कानून, साप्ताहिक अवकाश कानून, बागान मजदूर कानून, ठेका श्रम (नियमन व उन्मूलन) कानून, बिल्डिंग तथा अन्य निर्माण मजदूर कानून जैसे 16 प्रमुख कानूनों के तहत रजिस्टर रखने व रिटर्न भरने से छूट मिल जायेगी। वैसे तो उद्योगपति हमेशा ही कानूनों को धता बताते हुए मजदूरों का जमकर शोषण करते हैं, दुर्घटना होने पर मुआवजा देने से बचने के लिए रजिस्टर बदलने या नाम काटने की घटनाएँ होती हैं। अब तो रजिस्टर में नाम ही नहीं होगा।

इन श्रम सुधारों के बाद पहले से जो श्रम सुधार लाइन में हैं उनमें कारखाना बन्दी के लिए छूट की सीमा को 100 मजदूर से बढ़ाकर 300 मजदूर करने, हड़ताल के दौरान समझौता वार्ता के लिए यूनियनों की मान्यता शर्त 30 प्रतिशत से बढ़ाकर 50 प्रतिशत मजदूरों का समर्थन, ऑटो क्षेत्र को आवश्यक सेवा के अन्तर्गत लाकर इसमें आवश्यक सेवा अधिनियम लागू करना और वहाँ हड़तालों पर रोक लगाना है। इसके अलावा काम के घण्टे बढ़ाना, सालाना सवैतनिक अवकाश कम करना, ट्रेड यूनियन गठन व पंजीकरण को कठिन बनाना, हड़तालों से पहले मतदान कराना, तथा हड़ताल करने के लिए मौजूदा 14 दिन पूर्व की चेतावनी को बढ़ाकर 6 महीना करना आदि प्रस्ताव हैं।

अभी तक उन कम्पनियों, फैक्टरियों, खदानों व बगानों में जहाँ साल-भर 100 से अधिक मजदूर काम करते हैं, वहाँ सम्बन्धित सरकार की बगैर अनुमति कोई मालिक न तो ले ऑफ कर सकता है न मजदूर की छँटनी कर सकता है और न ही उद्योग बन्द कर सकता है। लेकिन प्रस्तावित संशोधन से किसी भी छोटे-बड़े आकार के संस्थान में ले ऑफ या छँटनी के पूर्व किसी प्रकार की सरकारी अनुमति की कोई बाध्यता नहीं होगी। छँटनी करने से दो महीने पहले मालिक केवल मजदूर को नोटिस देगा, अगर वह पूर्व नोटिस न देना चाहे तो नोटिस के एवज में दो माह का वेतन दे सकता है।

तालाबन्दी, ले ऑफ और छँटनी करने के लिए मजदूरों की संख्या 100 से बढ़ाकर 300 करना भी उद्योगपतियों के लिए काफी बड़ी राहत है।

यूनियन के गठन एवं पंजीकरण के सन्दर्भ में प्रस्तावित संशोधनों के अनुसार किसी समूह का बतौर ट्रेड यूनियन तब तक पंजीकरण नहीं किया जा सकता जब तक उस फैक्टरी या प्रतिष्ठान के 10 प्रतिशत मजदूरों (या 100 मजदूरों, दोनों में से जो कम हो) का समर्थन न मिल जाय। इसके अतिरिक्त पंजीकरण हो जाने भर से उस समूह को मजदूरों का प्रतिनिधि नहीं माना जा सकता। इसके लिए 25 प्रतिशत मजदूरों का समर्थन आवश्यक होगा। संशोधन के अनुसार सोल बारगेनिंग एजेण्ट (एकमात्र सौदेबाजी अभिकर्ता) होने के लिए पहले के 51 प्रतिशत की जगह अब 66 प्रतिशत मतों की दरकरार होगी। यह मत कुल पड़े मतों का 66 प्रतिशत नहीं बल्कि कुल मजदूरों की संख्या का 66 प्रतिशत होगा। पंजीकरण आदि की मान्यता रोज-रोज नहीं बाँटी जायेगी। यह चार वर्षों में एक बार तय की जायेगी। एक बार तय हो जाने के बाद 4 वर्ष से पहले किसी यूनियन या फेडरेशन को यह अधिकार नहीं होगा कि वह इसके लिए अपना दावा पेश करे।

हड़ताल करने के सम्बन्ध में प्रस्तावित संशोधन कहता है कि मान्यता प्राप्त ट्रेड यूनियन को हड़ताल करने से पहले गुप्त मतदान करवाकर 51 प्रतिशत मजदूरों का समर्थन लेना होगा। बिना 51 प्रतिशत समर्थन के बुलायी गयी हड़ताल गैर कानूनी होगी। इसके दण्ड स्वरूप गैर-कानूनी हड़ताल के हर दिन के लिए मजदूर को तीन दिन का वेतन देना होगा।

प्रस्तावित संशोधनों में एक महत्त्वपूर्ण बदलाव लेबर इंस्पेक्टर (श्रम निरीक्षक) द्वारा फैक्टरी-कारखाना आदि के निरीक्षण में किया

जाने का प्रस्ताव है। मौजूदा प्रस्ताव के मुताबिक किस फैक्टरी का निरीक्षण करना है यह कम्प्यूटर लॉटरी से चुना जायेगा और कौन निरीक्षक इसके लिए जायेगा यह भी इसी प्रक्रिया से तय होगा। निरीक्षक 72 घण्टों के भीतर अपनी रिपोर्ट देगा और कोई भी कदम रिपोर्ट की जाँच-पड़ताल के बाद किसी केन्द्रीय ऐजेंसी द्वारा लिया जायेगा।

उद्योग जगत ने इस प्रस्ताव का सबसे अधिक समर्थन किया है। उनका कहना है कि भारतीय श्रम कानूनों की जटिलता के कारण ही विदेशी निवेशक यहाँ पूँजी लगाने में हिचकिचाहट महसूस करते हैं लेकिन प्रस्तावित संशोधन उनकी दुविधा दूर कर देंगे।

ट्रेड यूनियनों को शामिल किये गये बगैर बदले जा रहे ये तमाम श्रम कानून भारतीय श्रम बाजार को देशी-विदेशी पूँजीपतियों के आगे न्यौछावर कर मजदूर वर्ग के ऊपर चौतरफा हमला है।

मौजूदा श्रम सुधार का खाका 2002 में तत्कालीन अटल बिहारी वाजपेयी की राजग सरकार में ही तैयार किया जा चुका था। ऐसा भी नहीं है कि कांग्रेस सरकार को इससे कोई परेशानी थी। बिना इन्हें लागू किये ही पूँजीपति मजदूरों का मनमाफिक शोषण करने को आजाद थे। शायद इसीलिए कांग्रेस ने बेवजह मजदूर वर्ग का कोपभाजन बनना उचित नहीं समझा। वर्तमान मोदी सरकार पूर्ण बहुमत की सरकार होने के दम्भ में मजदूर वर्ग की कोई परवाह ही नहीं करती और देशी-विदेशी पूँजीपतियों के चरणों में साष्टांग लोटने को तत्पर है।

मौजूदा श्रम सुधारों के प्रति कांग्रेस और अन्य पार्टियों के समर्थन को इसी से समझा जा सकता है कि राज्य सभा में बहुमत होने के बावजूद तमाम श्रम संशोधन रोज-ब-रोज ध्वनि मत से पारित हो रहे हैं।

यह सही है कि हमारे देश के सभी श्रम कानून केवल 7 प्रतिशत संगठित क्षेत्र के मजदूरों पर ही लागू होते हैं और वहाँ भी जिसकी लाठी उसकी भैंस ही चलता आ रहा है। 93 प्रतिशत असंगठित क्षेत्र के मजदूरों के लिए कोई नियम-कानून नहीं है। जरूरत तो श्रम कानूनों के दायरे को असंगठित क्षेत्र तक विस्तारित करने की थी, जबकि रही-सही कानूनी सुरक्षा भी छीनीं जा रही है।

मजदूर वर्ग पर बढ़ते हमले और श्रम कानूनों में किये जा रहे संशोधन दो परिघटनाओं को स्पष्ट रूप से चिह्नित करते हैं। पहला, पूँजीवाद का खुद का बढ़ता संकट। तथा दूसरा, मजदूर वर्ग का बिखराव और उसकी कमजोर हालत।

श्रम सुधारों को उस दौर में लागू किया जा रहा है जब 1991 की नयी आर्थिक नीतियाँ जनता को दिखाये सब्जबाग को हासिल करने में पूरी तरह असफल सिद्ध हुई है। ''संगठित क्षेत्र में रोजगार वृद्धि नहीं हो रही है''(दूसरे श्रम आयोग की रिपोर्ट पैरा 4.274) पूँजीवादी निजाम मंदी और आर्थिक संकट की पूर्ण गिरफ्त में है। विश्व पूँजीवाद के सामने पूँजी निवेश का राक्षस रोज विकराल रूप धारण कर प्रकट हो रहा है और खुद पूँजीपति वर्ग इस बौखलाहट में अपने तात्कालिक हितों के सम्मुख अपने दीर्घकालिक हितों की कुर्बानी देने के लिए आतुर है।

दूसरी ओर मजदूर वर्ग (भारत सहित पूरी दुनिया का) ऐतिहासिक रूप से अपनी सबसे बुरी हालत में है। बिखराव, निराशा और पस्तहिम्मती ने मजदूर वर्ग के झण्डे को जाति, धर्म, नस्ल, लिंग, क्षेत्र आदि के भेदभाव की धूल और गर्द से पाट दिया है और पूँजीपति वर्ग को आक्रामक होने का मौका दिया है।

ऐसे समय में जरूरत है कि अपनी एकता के दम पर मजदूर वर्ग इस बिखराव, निराशा और पस्तहिम्मती को जड़ से उखाड़ फेंके, जाति, धर्म, नस्ल लिंग, क्षेत्र आदि के भेदभाव की धूल में सने अपने झण्डे को झाड़कर साफ करे और पूँजीवादी-साम्राज्यवादी निजाम से मुकम्मल लड़ाई के लिए अपने झण्डे को मजबूती से थामकर आगे बढ़ें।

## कंगाली का लोकतंत्र

भारत में लगभग 40 करोड़ मजदूर हैं, जो पूरी दुनिया की मजदूर आबादी का लगभग 13 प्रतिशत है। भारत में असमानता बढ़ रही है और आर्थिक रूप से पिछड़े लोग बेहद गरीब होते जा रहे हैं। 70 प्रतिशत गैर-खेतीहर मजदूर असंगठित क्षेत्र में काम करते हैं। अगर इसमें खेतीहर मजदूरों को भी शामिल कर दें (जो कुल मजदूरों के 60 प्रतिशत हैं) तो यह आँकड़ा 90 प्रतिशत से भी अधिक हो जाता है। यहाँ हर प्रकार के अनौपचारिक रोजगार का चलन है, जिसमें कर्ज में डूबे तरह-तरह के बँधुवा मजदूर और स्वरोजगार में लगे लोग शामिल हैं। भारत में किये जानेवाले लगभग सारे काम अकुशल प्रकृति के हैं, जिनमें किसी खास शिक्षण-प्रतिक्षण की जरूरत नहीं होती और फिर भी ऐसे रोजगार कम ही हैं। भारत के नामचीन तकनीकी और सॉफ्टवेयर उद्योग कुल मजदूरों के बहुत मामूली हिस्से को भी रोजगार नहीं दे पाते। खुली बेरोजगारी 12 प्रतिशत है। 36 प्रतिशत आबादी उस गरीबी रेखा के नीचे रहती है, जिसका सरकारी पैमाना बहुत ही बेकार और ढीला-ढाला है। 1995 में, खेती में लगा एक परिवार जिसमें दो बड़े और दो बच्चे काम करते थे, उसकी सालाना आमदनी 50,000 रुपये थी, यानी हर महीने लगभग 4 हजार रुपये। भारत को दुनिया का सबसे बड़ा प्रजातंत्र कहा जाता है। बदकिस्मती से यह कंगाली और बदहाली का लोकतंत्र है।

**(बारबरा हैरिस-व्हाइट और नंदनी गुप्तु की 'मैपिंग इण्डियाज वर्ल्ड ऑफ अनऑर्गनाइज्ड लेबर', सोसलिस्ट रजिस्टर 2001 में संकलित। मंथली रिव्यू प्रेस से प्रकाशित, माइकल डी. येट्स की पुस्तक *नेमिंग द सिस्टम* में उद्धृत।)**

*हमारी विरासत*

# भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन और गदर पार्टी

**–शैलेन्द्र चौहान**

***(16 नवम्बर, गदर पार्टी के संस्थापक शहीद करतार सिंह सराभा की 99वीं पुण्यतिथि पर)***

## ''मैं हिन्दी, ठेठ हिन्दी, जात हिन्दी, नाम हिन्दी है''

**1857 के प्रथम** स्वतंत्रता संग्राम की विफलता के बाद ब्रिटिश सरकार ने भारत में सत्ता पर सीधा नियंत्रणकर एक ओर उत्पीड़न तो दूसरी ओर औपनिवेशिक व्यवस्था का निर्माण शुरू किया। क्योंकि खुद ब्रिटेन में लोकतांत्रिक व्यवस्था थी, इसलिए म्युनिसपैलिटी आदि संस्थाओं का निर्माण भी किया गया, लेकिन भारत का आर्थिक दोहन अधिक से अधिक हो, इसलिए यहाँ के देशी उद्योगों को नष्ट करके यहाँ से कच्चा माल इंग्लैंड भेजा जाना शुरू किया गया। साथ ही पूरे देश में रेलवे का जाल बिछाया जाना शुरू हुआ। ब्रिटिश सरकार ने भारत के सामन्तों को अपना सहयोगी बनाकर किसानों का भयानक उत्पीड़न शुरू किया। नतीजतन उन्नीसवीं सदी के अन्त तक आते-आते देश के अनेक भागों में छिटपुट विद्रोह होने लगे। महाराष्ट्र और बंगाल तो इसके केन्द्र बने ही, पंजाब में भी किसानों की दशा पूरी तरह खराब होने लगी। परिणामतः बीसवीं सदी के आरम्भ में ही पंजाब के किसान देश से बाहर कनाडा, अमरीका की ओर मजदूरी की तलाश में जाने लगे। मध्यवर्गीय छात्र भी शिक्षा-प्राप्ति हेतु अमरीका, इंग्लैंड और यूरोप के अन्य देशों में जाने लगे थे।

अमरीका और कनाडा में भारत से काम की तलाश में सबसे पहले 1895 और 1900 के बीच कुछ लोग पहुँचे। 1897 में कुछ सिख सैनिक इंग्लैंड में डायमंड जुबली में हिस्सा लेने आये और लौटते हुए कनाडा से गुजरे। उनमें से कुछ वहीं रुक गये, लेकिन ज्यादातर पंजाबी मलाया, फिलिपींस, हांगकांग, शंघाई, फिजी, ऑस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड आदि देशों से सबसे पहले कनाडा और अमरीका पहुँचे। 1905 में कनाडा पहुँचनेवाले भारतीयों की संख्या सिर्फ 45 थी, जो 1908 में बढ़कर 2023 तक पहुँच गयी। एक विद्वान के अनुसार 1907 में वहाँ 6000 तक भारतीय पहुँच चुके थे। इनमें से 80 प्रतिशत पंजाबी-सिख किसान थे। 1909 में कनाडा में प्रवेश के कानून कड़े कर दिये जाने पर भारतीयों का रुख अमरीका की ओर हुआ, जहाँ पर 1913 में भारतीयों की संख्या एक अनुमान के अनुसार पाँच हजार थी, हालाँकि डॉ. राम मनोहर लोहिया अपनी पुस्तक 'इण्डिया इन फॉरेन लैण्ड' में इनकी संख्या 15000 बताते हैं। इन भारतीयों में 90 प्रतिशत पंजाबी-सिख किसान थे, कुछ मध्यवर्गीय विद्यार्थी थे।

कनाडा और अमरीका पहुँचे पढ़े-लिखे भारतीयों ने शीघ्र ही वहाँ से भारतीय स्वतंत्रता की माँग उठानेवाली पत्र-पत्रिकाएँ निकालनी शुरू की। तारकनाथ दास ने पहले कनाडा से *फ्री हिन्दुस्तान* पत्र निकाला तो बाद में अमरीका से। गुरुदत्त कुमार ने कनाडा में 'यूनाइटेड इंडिया लीग' बनायी और *स्वदेश सेवक* पत्रिका भी निकाली। कनाडा और अमरीका के अतिरिक्त इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी, जापान व अन्य अनेक देशों में पहुँचे भारतीयों ने स्वतंत्रता की अलख जगायी। भारत से बाहर जाकर भारतीय स्वतंत्रता के लिए आन्दोलन करनेवाले भारतीयों में सबसे पहला चर्चित नाम श्यामजी कृष्ण वर्मा का है, जिन्होंने पहले इंग्लैंड और उसके बाद पेरिस से स्वतंत्रता का बिगुल बजाया। इंग्लैंड से शुरू हुआ 'इंडियन सोशियोलोजिस्ट' अंग्रेजों की कोपदृष्टि का शिकार होकर पेरिस पहुँचा और वहाँ से भारत और दूसरी जगहों पर पहुँचता रहा। पेरिस में श्यामजी कृष्ण वर्मा के साथ-साथ सरदार सिंह राणा और मदाम भीकाजी कामा बहुत सक्रिय रहीं।

1907 के स्टुटगार्ड में हुए समाजवादी सम्मेलन में भीकाजी कामा ने ही पहली बार भारत का झण्डा फहराया। जर्मनी में वीरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय, जो 'चट्टो' के नाम से चर्चित थे और चंपक रमण पिल्लै सक्रिय थे। इन्हीं के साथ स्वामी विवेकानंद के छोटे भाई डॉ. भूपेन्द्रनाथ दत्त भी सक्रिय रहे। पंजाब से पहुँचे मदनलाल ढींगरा ने 1909 में कर्जन वायली की हत्या कर दी, जिसके कारण उन्हें डेढ़ महीने के भीतर ही लंदन में फाँसी दे दी गयी। भारत से बाहर भारत की आजादी के लिए फाँसी पर चढ़कर शहीद होनेवाले वे शायद पहले भारतीय थे। इसके 31 साल बाद एक और पंजाबी देशभक्त उधम सिंह ने जलियाँवाला बाग के कुख्यात खलनायक ओ डायर की हत्या कर 1940 में लंदन में ही शहादत हासिल की थी। इस बीच ईरान में सूफी अम्बा प्रसाद और कनाडा में भाई मेवा सिंह शहीद हुए।

भारत से अमरीका गये भारतीय, जिनमें से ज्यादातर पंजाबी थे, प्रायः पश्चिमी तट के नगरों में रहते और काम की तलाश करते थे। इन शहरों में पोर्टलैंड, सेंट जॉन, एस्टोरिया, एवरेट आदि शामिल थे, जहाँ लकड़ी के कारखानों व रेलवे वर्कशॉपों में काम करनेवाले भारतीय बीस-बीस, तीस-तीस की टोलियों में रहते थे। कनाडा व अमरीका में गोरी नस्ल के लोगों के नस्लवादी रवैये से भारतीय मजदूर काफी दुःखी थे। भारतीयों के साथ इस भेदभावपूर्ण व्यवहार के विरुद्ध कनाडा में सन्त तेजा सिंह संघर्ष कर रहे थे तो अमरीका में ज्वाला सिंह ठट्ठीआँ संघर्षरत थे। इन्होंने भारत से विद्यार्थियों को पढ़ाई करने के लिए अमरीका बुलाने के लिए अपनी जेब से छात्रवृत्तियाँ भी दीं। दसवीं कक्षा पास करने के बाद करतार सिंह सराभा के

परिवार ने उच्च शिक्षा प्रदान करने के लिए उसे अमरीका भेजने का निर्णय लिया और 1 जनवरी 1912 को सराभा ने अमरीका की धरती पर पाँव रखा। उस समय उनकी आयु पन्द्रह वर्ष से कुछ महीने ही अधिक थी। इस उम्र में सराभा ने उड़ीसा के रेवनशा कॉलेज से ग्यारहवीं की परीक्षा पास कर ली थी। सराभा के गाँव का रुलिया सिंह 1908 में ही अमरीका पहुँच गया था और अमरीका-प्रवास के प्रारम्भिक दिनों में सराभा अपने गाँव के रुलिया सिंह के पास ही रहे। करतार सिंह सराभा (जन्म- 24 मई 1896, फाँसी- 16 नवम्बर 1915) भारत को अंग्रेजों की दासता से मुक्त करने के लिए अमरीका में बनी गदर पार्टी के अध्यक्ष थे। भारत में एक बड़ी क्रान्ति की योजना के सिलसिले में उन्हें अंग्रेजी सरकार ने कई अन्य लोगों के साथ फाँसी दे दी। 16 नवम्बर 1915 को करतार को जब फाँसी पर चढ़ाया गया, तब वे मात्र साढ़े उन्नीस वर्ष के थे। 1912 के आरम्भ में पोर्टलैंड में भारतीय मजदूरों का एक बड़ा सम्मेलन हुआ, जिसमें बाबा सोहन सिंह भकना, हरनाम सिंह टुंडीलाट, काशीराम आदि ने हिस्सा लिया। ये सभी बाद में गदर पार्टी के महत्त्वपूर्ण नेता बन कर उभरे। इस समय करतार सिंह की भेंट ज्वाला सिंह ठट्ठीआँ से भी हुई, जिन्होंने उसे बर्कले विश्वविद्यालय में दाखिला लेने के लिए प्रेरित किया, जहाँ सराभा रसायन शास्त्र का विद्यार्थी बना।

बर्कले विश्वविद्यालय में करतार सिंह पंजाबी होस्टल में रहने लगे। बर्कले विश्वविद्यालय में उस समय करीब तीस विद्यार्थी पढ़ रहे थे, जिनमें ज्यादातर पंजाबी व बंगाली थे। ये विद्यार्थी दिसम्बर, 1912 में लाला हरदयाल के सम्पर्क में आये, जो उन्हें भाषण देने गये थे। लाला हरदयाल ने विद्यार्थियों के सामने भारत की गुलामी के सम्बन्ध में काफी जोशीला भाषण दिया। भाषण के पश्चात हरदयाल ने विद्यार्थियों से व्यक्तिगत रूप से भी बातचीत की। लाला हरदयाल और भाई परमानंद ने भारतीय विद्यार्थियों के दिलों में ब्रिटिश औपनिवेशिक सरकार के खिलाफ भावनाएँ पैदा करने में बड़ी भूमिका निभायी। भाई परमानन्द बाद में भी सराभा के सम्पर्क में रहे। इससे धीरे-धीरे सराभा के मन में देशभक्ति की तीव्र भावनाएँ जागृत हुईं और वह देश के लिए मर-मिटने का संकल्प लेने की ओर अग्रसर होने लगे। सराभा और उनके अन्य क्रान्तिकारी साथियों ने गदर आन्दोलन की शुरुआत अमरीका में की थी।

भारत पर काबिज ब्रिटिश उपनिवेशवाद के खिलाफ 19 फरवरी 1915 को 'गदर' की शुरुआत की थी। इस 'गदर' यानी स्वतंत्रता संग्राम की योजना अमरीका में 1913 में अस्तित्व में आयी 'गदर पार्टी' ने बनायी थी और इसके लिए लगभग आठ हजार भारतीय अमरीका और कनाडा जैसे देशों में सुख-सुविधाओं भरी जिन्दगी छोड़कर भारत को अंग्रेजों से आजाद करवाने के लिए समुद्री जहाजों पर भारत पहुँचे थे। 'गदर' आन्दोलन शान्तिपूर्ण आन्दोलन नहीं था, यह सशस्त्र विद्रोह था, लेकिन 'गदर पार्टी' ने इसे गुप्त रूप न देकर खुलेआम इसकी घोषणा की थी और गदर पार्टी के पत्र 'गदर', जो पंजाबी, हिंदी, उर्दू व गुजराती चार भाषाओं में निकलता था, के माध्यम से इसका समूची भारतीय जनता से आह्वान किया था। अमरीका की स्वतंत्र धरती से प्रेरित हो अपनी धरती को स्वतंत्र करवाने का यह शानदार आह्वान 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम से प्रेरित था और ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने जिसे अवमानना से 'गदर' नाम दिया, उसी 'गदर' शब्द को सम्मानजनक रूप देने के लिए अमरीका में बसे भारतीय देशभक्तों ने अपनी पार्टी और उसके मुखपत्र को ही 'गदर' नाम से विभूषित किया। जैसे 1857 के 'गदर' यानी प्रथम स्वतंत्रता संग्राम की कहानी बड़ी रोमांचक है, वैसे ही स्वतंत्रता के लिए दूसरा सशस्त्र संग्राम यानी 'गदर' भी चाहे असफल रहा, लेकिन इसकी कहानी भी कम रोचक नहीं है। विश्व स्तर पर चले इस आन्दोलन में दो सौ से ज्यादा लोग शहीद हुए, 'गदर' व अन्य घटनाओं में 315 से ज्यादा ने अंडमान जैसी जगहों पर काले पानी की उम्रकैद भुगती और 122 ने कुछ कम लम्बी कैद भुगती। सैकड़ों पंजाबियों को गाँवों में वर्षों तक नजरबन्दी झेलनी पड़ी। उस आन्दोलन में बंगाल से रास बिहारी बोस वे शचीन्द्रनाथ सान्याल, महाराष्ट्र से विष्णु गणेश पिंगले व डॉ. खानखोजे, दक्षिण भारत से डॉ॰ चेन्चय्या व चंपक रमण पिल्लै तथा भोपाल से बरकतुल्ला आदि ने हिस्सा लेकर उसे एक ओर राष्ट्रीय रूप दिया तो शंघाई, मनीला, सिंगापुर आदि अनेक विदेशी नगरों में हुए विद्रोह ने इसे अन्तरराष्ट्रीय रूप भी दिया।

1857 की भाँति ही 'गदर' आन्दोलन भी सही मायनों में धर्म निरपेक्ष संग्राम था जिसमें सभी धर्मों व समुदायों के लोग शामिल थे। 16 नवम्बर 1915 को साढ़े उन्नीस साल के युवक करतार सिंह सराभा को उनके छह अन्य साथियों– बख्शीश सिंह, (जिला अमृतसर); हरनाम सिंह, (जिला स्यालकोट); जगत सिंह, (जिला लाहौर); सुरैण सिंह व सुरैण, दोनों (जिला अमृतसर) व विष्णु गणेश पिंगले, (जिला पूना, महाराष्ट्र)- के साथ लाहौर जेल में फाँसी पर चढ़ाकर शहीद कर दिया गया। इनमें से जिला अमृतसर के तीनों शहीद एक ही गाँव गिलवाली से सम्बन्धित थे। करतार सिंह सराभा, गदर पार्टी आन्दोलन के लोक नायक के रूप में अपने बहुत छोटे-से राजनीतिक जीवन के कार्यकलापों के कारण उभरे। कुल दो-तीन साल में ही सराभा ने अपने प्रखर व्यक्तित्व की ऐसी प्रकाशमान किरणें छोड़ीं कि देश के युवकों की आत्मा को उसने देशभक्ति के रंग में रंग कर जगमग कर दिया। ऐसे वीर नायक को फाँसी देने से न्यायाधीश भी बचना चाहते थे और सराभा को उन्होंने अदालत में दिया बयान हल्का करने का मशविरा और वक्त भी दिया, लेकिन देश के नवयुवकों के लिए प्रेरणास्त्रोत बननेवाले इस वीर नायक ने बयान हल्का करने की बजाय और सख्त किया और फाँसी की सजा पाकर खुशी में अपना वजन बढ़ाते हुए हँसते-हँसते फाँसी पर झूल गया। गदर पार्टी आन्दोलन की यह विशेषता भी रेखांकित करने लायक है कि विद्रोह की असफलता से गदर पार्टी समाप्त नहीं हुई, बल्कि इसने अपना अन्तरराष्ट्रीय अस्तित्व बचाये रखा व भारत में कम्युनिस्ट पार्टी में शामिल होकर व विदेशों में अलग अस्तित्व बनाये रखकर गदर पार्टी ने भारत के स्वाधीनता संग्राम में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। आगे चलकर 1925-26 से पंजाब का युवक विद्रोह, जिसके लोकप्रिय नायक भगत सिंह बने, भी गदर पार्टी व करतार सिंह सराभा से अत्यन्त प्रभावित रहा। करतार सिंह सराभा की यह गजल भगत सिंह को बेहद प्रिय थी वे इसे अपने पास हमेशा रखते थे और अकेले में अकसर गुनगुनाया करते थे--

यहीं पाओगे महशर में जबां मेरी बयाँ मेरा,
मैं बन्दा हिन्द वालों का हूँ है हिन्दोस्ताँ मेरा;

मैं हिन्दी ठेठ हिन्दी जात हिन्दी नाम हिन्दी है,
यही मजहब यही फिरका यही है खानदाँ मेरा;

मैं इस उजड़े हुए भारत का यक मामूली जर्रा हूँ,
यही बस इक पता मेरा यही नामो-निशाँ मेरा;

मैं उठते-बैठते तेरे कदम लूँ चूम ऐ भारत!
कहाँ किस्मत मेरी ऐसी नसीबा ये कहाँ मेरा;
तेरी खिदमत में अय भारत! ये सर जाये ये जाँ जाये,
तो समझूँगा कि मरना है हयाते-जादवाँ मेरा।''

एक तरह से भगत सिंह का व्यक्तित्व व चिन्तन गदर पार्टी की परम्परा को अपनाते हुए उसके अग्रगामी विकास के रूप में निखरा। यह अस्वाभाविक नहीं है कि करतार सिंह सराभा ही भगत सिंह के सबसे लोकप्रिय नायक थे, जिनका चित्र वे हमेशा अपनी जेब में रखते थे और 'नौजवान भारत सभा' नामक युवा संगठन के माध्यम से वे करतार सिंह सराभा के जीवन को स्लाइड शो द्वारा पंजाब के नवयुवकों में आजादी की प्रेरणा जगाने के लिए दिखाते थे। 'नौजवान भारत सभा' की हर जनसभा में करतार सिंह सराभा के चित्र को मंच पर रख कर उसे पुष्पांजलि दी जाती थी।

# मिथकशास्त्र, विज्ञान और समाज

**-विक्रम सोनी/रोमिला थापर**

**कुछ लोग विश्वास** करते हैं कि प्राचीनतम भारतीयों को आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों के बारे में जानकारी थी, चूँकि इसे सही ठहरानेवाला कोई भी वैज्ञानिक प्रमाण नहीं है, इसलिए इस सम्भावना को सामने रखते हुए इतना जरूर समझा जा सकता है कि सम्भवतः पाँच हजार साल पहले भी इसके लिए आवश्यक ज्ञान मौजूद रहा हो, लेकिन उसे बचाया नहीं जा सका या कि हम ज्ञान की मौजूदगी को पूरी तरह खारिज नहीं कर सकते। इसलिए हमने सोचा कि इस दृष्टिकोण की समीक्षा करना उपयोगी हो सकता है।

## जादुई यथार्थवाद

मिथकशास्त्र इस मायने में जादुई यथार्थवाद है कि मिथकशास्त्र के तानेबाने में कुछ यथार्थवाद है और बहुत कुछ जादू, जिसे पारलौकिक चीजों और अलौकिक शक्तियोंवाली दन्तकथाओं में मिलाकर बुना गया है। मिथक मानव व्यवहार, दुविधाओं, मनोवृतियों और विरोधाभासों के चरम को भी दर्शाता है। इन कथाओं से कल्पना को निकाल दें तो ये नीरस प्रवचन बनकर रह जायेंगी।

अब हमारे पास भरपूर कल्पना है जिनमें विमान हैं, कई सिर और हाथ हैं तथा सभी प्रकार के यंत्र और जुगाड़ हैं जिनके साई-फाई या हाई-फाई उपकरण होने का दावा किया जा सकता है, जिन सबकी खोज पौराणिक अतीत में निहित उर्वर कल्पनाशीलता से हुई है। इस मामले में हम ऐसे दूसरे समाजों से बिलकुल अलग नहीं हैं जिनका अतीत काफी प्राचीन रहा है। क्या इसके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि आधुनिक आविष्कार उस अतीत काल में भी मौजूद थे। यह हमें कल्पना की दूसरी अतिरंजित उड़ान पर, इस विश्वास की ओर ले जाता है कि वह सभी चीजें जिनकी उस दौर में कल्पना की गयी थी, वास्तव में अतीत के भौतिक आविष्कारों का हिस्सा थी और जब मिथक लोगों की आस्था में शामिल हो जाते हैं तो मिथकशास्त्र के साथ गड़मड़ हो जाता है।

निसन्देह, कल्पना एक शक्तिशाली रचनात्मक शक्ति रही है और आगे भी रहेगी और हमारे पास आज ऐसे मिथक हैं जिनमें हमारे आज के दौर की कल्पना समाहित है। अगर हम जूल्स वर्न या आर्थर सी. क्लार्क को पढ़ें, तो वे हमें अन्तरिक्ष भ्रमण के युग में ले जाते हैं, भले ही वे अन्तरिक्ष पूरी तरह भिन्न हों, या हम जॉर्ज आरवेल की रचना 1984 को ही लें, वह हमें रोबोट और कम्प्यूटरनुमा लोगोंवाली एक ऐसी सर्वसत्तावादी युग में ले जाता है जो हमारे ऊपर काबिज हैं और हम पर शासन कर रहे हैं। ऐसी कल्पना कभी-कभी भविष्य सूचक रूपधारण कर लेती हैं। लेकिन इसमें एक भारी अन्तर है। यह कल्पना कभी वास्तविकता के साथ एक ऐसा सम्बन्ध कायम करती है जिसका प्रयोजन भविष्योनमुख होता है, जबकि आज के भारत में दावा यह किया जाता है कि यह हमारे अतीत की किसी वास्तविकता से जुड़ती है। ऐसे में इनको कालक्रम में कहाँ स्थान दिया जाय-- भविष्य में या अतीत में?

पौराणिक कथाओं को पौराणिक कथाओं के रूप में ही पढ़ा जाना चाहिए और इसलिए इसे एक समृद्ध और पृथक पहचान के रूप में लेना चाहिए। मिस्र, यूनान, भारत, चीन और अन्य देशों के प्राचीन मिथक निर्माताओं ने मिथक की कल्पना ईश्वर और अलौकिक शक्ति के साथ मिलाते हुए की थी, इसलिए शायद इतिहास या विज्ञान के साथ इन्हें न उलझाना ही उचित है। मिथक पुरानी दन्तकथाएँ हैं जबकि इतिहास ऐसी घटना है जिसके बारे में यह माना जाता है कि वह घटित हुई, जिसका एक हिस्सा विज्ञान भी है। विज्ञान को मिथक की जगह रख देना गलत है, बल्कि इसे झक्कीपन भी कहा जा सकता है। जैसा कि हाल ही में प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी की टिप्पणी से जाहिर होता है जिसमें उन्होंने प्रचीन पौराणिक कथाओं को समकालीन विज्ञान से जोड़ते हुए यह दावा किया था कि आज के आविष्कार हमारे प्राचीन काल में पहले ही भौतिक रूप से अविष्कृत हो चुके थे।

## स्वप्न बनाम यथार्थ

विज्ञान सूचना और एकत्रित ज्ञान पर आधारित होता है। इसके लिए आवश्यक है कि यह सूचना और ज्ञान क्रमबद्ध और तार्किक

रूप से विश्लेषित हो। प्रमाण के रूप में स्वीकारे जाने से पहले साक्ष्यों की विश्वसनीयता की सख्ती से जाँच-पड़ताल की जाती है। जाहिर है कि यह प्रक्रिया कल्पना पर लागू नहीं की जाती। आविष्कार महज कल्पना की क्षणिक छलाँग भर नहीं होते। उनकी एक गर्भावधि होती है। एक अन्तिम उत्पाद के रूप में सामने आने से पहले वे कई अलग-अलग चरणों और पुनरावृतियों से गुजरते हैं, जैसे कि हवाई जहाज। अतीत की ऐसी किसी पौराणिक रचना के लिए इस तरह के किसी घटनाक्रम का कोई दस्तावेजी प्रमाण नहीं है। यह सच है कि विज्ञान तथा उसकी खोज और तकनीक दोनों ही कल्पना और आविष्कार के सृजनात्मक योगदान से हासिल होती है। हालाँकि ये दोनों ही क्रियाएँ केवल कल्पना पर आधारित नहीं होती हैं। अगर ऐसा हो तो ये ख्वाब ही रह जाती हैं, वास्तविकता में नहीं बदल पातीं।

आज के माहौल में यह प्रौपेगेण्डा जो अब औपचारिक रूप ग्रहण करता जा रहा है, हमें जॉर्ज बुश और उन अमरीकियों से भी एक कदम आगे ले जायेगा जो विकासवाद को नकारते हैं और इसकी जगह कुदरत के करिश्मे (इन्टेलिजेन्ट डिजाईन) को रख देते हैं जो दैवीय अवधारणा से बिल्कुल ही अलग नहीं है। यहाँ तक कि पोप ने भी, जिनको भगवान का करीबी माना जाता है, हाल ही में विकासवाद को स्वीकार किया है।

लोग अकसर अपनी आस्था के प्रति निष्कपट होते हैं, क्योंकि आस्था की ऐसी प्रकृति है कि उस पर सवाल नहीं किया जाता है। ऐसे लोगों की भावना का शोषण करना आसान है। इस तरह की उद्घोषणाओं से जिन लोगों का अतीत के बारे में पहले से ही एक विशेष नजरिया बना होता है और जो इन चीजों पर विश्वास करते हैं, अतिराष्ट्रवादी, अतार्किक और विज्ञान विरोधी में रूपान्तरित करना सम्भव है। यह कहना कि कोई वैज्ञानिक आविष्कार उस जमाने में भी हो गया था, जब उस आविष्कार के लिए जरूरी वैज्ञानिक ज्ञान का कोई अतापता ही नहीं था-- विज्ञान की वैधता को खारिज करने का ही एक तरीका है।

फिर पौराणिक कथाओं और धर्म को आसानी से मिलाया जा सकता है। हर कोई धर्म और राजनीति के विष्फोटक मिश्रण को लेकर चिंतित है। पौराणिक कथाओं को विज्ञान, धर्म और राजनीति के साथ फेंटकर विचारों का एक विस्फोटक कॉकटेल तैयार करने में हम मोलोतोव से भी आगे निकल रहे हैं। हम वहाँ नहीं जाना चाहते हैं।

(विक्रम सोनी जामिया मिलिया इस्लामिया नई दिल्ली के सैद्धान्तिक भौतिकी केन्द्र में प्रोफेसर हैं। रोमिला थापर जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली में प्राचीन इतिहास की मानद प्रोफेसर हैं। अनुवाद-- पारिजात)

# भारतीय मन की एक गम्भीर बीमारी ''जगदगुरु सिंड्रोम''

**-संजय जोठे**

**हम भारतीयों में** एक विशेष ग्रंथि रही है-- जगत गुरु ग्रंथि। सीधे-सीधे कहें तो स्वयं को सबसे अधिक ज्ञानवान, सच्चरित्र और विकसित मानने की ग्रंथि। हालाँकि इस महानता के पक्ष में अनेक एतिहासिक प्रमाण भी हैं, लेकिन इस खो गयी महानता को तार्किक-अतार्किक किसी भी ढंग से मनवाने या साबित करने की एक खतरनाक प्रवृत्ति भी हमारे समाज के सामूहिक मनोविज्ञान में हमेशा से सरकती रही है।

ऐसा नहीं है कि भारत के ज्ञात या अज्ञात इतिहास में श्रेष्ठ बातें नहीं थीं, या अन्य सभ्यताओं और समाजों की तुलना में यहाँ श्रेष्ठ बातों के जन्म और पल्लवन की सम्भावनाएँ कुछ कम थीं। बल्कि हकीकत ये है कि कुछ मामलों में श्रेष्ठ बातों की सम्भावनाएँ, अन्य समकालीन सभ्यताओं की तुलना में यहाँ अधिक ही थीं। और उसी का नतीजा है कि इतने सारे दर्शन, कलाएँ, मत-मतान्तर, स्थापत्य शैलियाँ, भाषा, साहित्य इत्यादि का जन्म हुआ। ये एक सर्वविदित तथ्य है कि प्राचीन काल में अन्य सभ्यताओं की तुलना में भारत भौगोलिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक रूप से कहीं अधिक स्थिर और उर्वर भूमि रहा है।

इस भूमि पर हजारों साल से मंगोल और मध्यपूर्व की बर्बर जातियों सहित यूरोप के तथाकथिक सभ्यता के वाहक-- दोनों ही आक्रमण करते रहे। अब सामान्य-सा गणित है, लूट और चोरी किस घर में होती है? निश्चित ही उस घर में जहाँ लूटने के लिए कुछ हो। और जिस घर को हजारों साल तक लूट के केन्द्र में रखा गया उसमे तो निश्चित ही बहुत कुछ रहा होगा जिसे लगातार लूटा गया और फिर भी बहुत सारा लूटने को शेष है।

इस देश को सामरिक ढंग से मध्यपूर्व और मंगोलिया से आनेवाले बर्बर आक्रांताओं ने लूटा, फिर यूरोप के कुछ कम 'सभ्य'' लोगों ने लूटा, फिर दुनिया के 'सबसे सभ्य'' समझे जानेवाले अंग्रेजों ने लूटा। हालाँकि उनकी सभ्यता बाकी सब बर्बरों पर भारी पड़ी, अन्य जातियों ने जहाँ सैन्य बल के आधार पर लूटा वहीं अंग्रेजों ने मीठी छुरी बन के धीरे-धीरे काटना शुरू किया और व्यापारिक और राजनीतिक षडयंत्रों का ऐसा जाल बुना कि न केवल इस देश के सत्ताधीश बल्कि इस देश की संस्कृति के रक्षक और 'सनातन विश्वगुरु'' की सारी सन्तानें चारों खाने चित्त हो गयीं। इतनी बारीकी और गहराई से ये जाल बुना गया कि इसके कई फन्दे आज भी हमारी गर्दनों में उलझे हुए हैं। ऐसा ही एक फन्दा है भारत की हीन भावना का और ये जगत गुरु ग्रंथि इसी हीन भावना का बाई प्रोडक्ट है, या कहें भारत की श्रेष्ठता का दावा इसी हीनता की ग्रंथि से रिस रहा है।

इस विषय को गहराई से देखें तो औपनिवेशिक ज्ञान काण्ड की जटिल और गूढ़ दुनिया के अनेकों षडयंत्रों में से एक को बेनकाब करने की तैयारी रखनी होगी। बहुत शातिर ढंग से यूरोपीय आकाओं ने न केवल इस देश के प्राकृतिक और मानव संसाधनों को अपने कब्जे में लिया, बल्कि उससे कहीं आगे बढ़कर इस देश की बौद्धिक सम्पदा को भी बहुत ढंग से अपने कब्जे में लेने के प्रयास किये। इनमें सबसे खतरनाक वे चालें थीं

जिनमें भारत को भविष्य में बाँटने और गुलाम बनाये रखने के लिए समसामयिक समस्याओं को अतिरंजित बनाकर उन्हें अतीत में प्रक्षेपित किया गया था। जैसे कि मनुस्मृति, जो कि अनेक स्मृतियों में से एक स्मृति है, उसे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बनाकर पेश किया गया और उसे अंग्रेजों ने भारत के सुदूर अतीत तक दिखाकर भारत को बहुत शुरुआत से एक पोंगापंथी राष्ट्र बनाकर पेश किया। इसी तरह अन्य बहुत से षडयंत्र हुए हैं जिनसे भारतीय मनीषा को कटघरे में खड़ा करने के प्रयास हुए हैं।

अब इसकी जो स्वाभाविक प्रतिक्रिया हो सकती थी वह हुई भी। अनेक संगठनों और सांस्कृतिक पुनर्जागरण की बात करनेवाले समूहों ने इससे ठीक उलटा काम करना शुरू किया। अब चूँकि ये काम प्रतिक्रियात्मक था और विकेन्द्रित ढंग से किया जाना था इसलिए इसमें 'क्वालिटी कंट्रोल'' का कोई उपाय नहीं था। और इस प्रयास में क्वालिटी आज तक आ भी नहीं पायी है। वह प्रयास था-- 'भारत की ऐतिहासिक श्रेष्ठता सिद्ध करने का प्रयास''।

एक अर्थ में ये बहुत आवश्यक है कि ज्ञात-अज्ञात इतिहास में जो श्रेष्ठ बातें भारत ने विकसित कीं उन्हें उजागर किया जाय और तार्किक और वैज्ञानिक ढंग से उन्हें दुनिया के सामने स्थापित किया जाय। लेकिन प्रतिक्रियावादी सुधारकों ने न तो स्वयं गम्भीरता से कोई शोध किया न किसी तरह की इमानदार बौद्धिक मुहीम को ही संगठित किया। बल्कि इससे विपरीत जाते हुए उन्होंने एक आसान तरीका खोजा। और ये आसान तरीका अब बहुत खतरनाक और आत्मघाती बन चुका है। ये आसान तरीका है-- 'आधुनिक और ज्ञात श्रेष्ठताओं को भारतीय मनीषा के अतीत में प्रक्षेपित करना''। ये सीधे-सीधे अंगरेजी षड्यंत्र के विपरीत काम है। इसीलिए ये प्रतिक्रियावादी भी है और अंग्रेजों के षडयंत्रों की तुलना में अधिक षडयंत्रपूर्ण तो नहीं, लेकिन अधिक मूर्खतापूर्ण अवश्य है।

अब इस मूर्खता का कोई अन्त दिखाई नहीं देता। जैसे-जैसे विज्ञान की ज्ञात खोजें आगे बढ़ती जाती हैं वैसे-वैसे भारत का कोई न कोई गुरु, सन्त, विचारक या आजकल तो राजनेता भी, उन खोजों को भारतीय पुराणों में प्रक्षेपित कर देता है। जैसे ही किसी वैज्ञानिक तथ्य का आविष्कार हुआ, उसे तुरन्त गीता, पुराण या वेदों में दिखाने की कोशिश शुरू हो जाती है। यह मूर्खता अन्य धर्मों में भी है, अरब के समाज में भी इसी तरह की प्रवृत्ति है और आजकल ये इतनी बढ़ गयी है कि इस विषय पर सैकड़ों किताबें बाजार में मिल रही हैं कि उनके अपने पुराने धर्मग्रंथों में आधुनिक विज्ञान की बातें कहाँ-कहाँ और किस रूप में मौजूद हैं।

इन बातों को सिद्ध करने के लिए सबसे शक्तिशाली हथियार जो इस्तेमाल होता है वह है– शब्दों, सूत्रों, लोकोक्तियों का ऊल-जलूल 'पोस्टमार्टम''। पुराने सूत्रों, श्लोकों, पुराण कथाओं या कहावतों में से किसी भी शब्द या इशारे को आधार बनाकर बड़ी मूर्खतापूर्ण ढंग से ये बताने की कोशिश होती है कि ''अभी-अभी जो खोज हुई है उसके बारे में तो हमारे शास्त्रों में हजारों साल पहले ही लिखा हुआ है''। अब यहाँ आश्चर्य इस बात पर नहीं होता है कि वो पुराना ज्ञान कहाँ खो गया है, बल्कि बड़ा आश्चर्य इस बात पर होता है कि उस ज्ञान को दुबारा खोजने में पश्चिमी वैज्ञानिक हमेशा ही आपसे आगे क्यों निकल जाते हैं?

अभी पुष्पक विमान और महाभारतकालीन जेनेटिक इंजीनियरिग की बात उठी थी। कहा गया है कि पुष्पक विमान वाकई में हवा में उड़नेवाला विमान था और गणेश का सर काटकर दुनिया का पहला *हेड ट्रांसप्लांट और प्लास्टिक सर्जरी* की गयी थी। इसी तरह पुराण कथाओं के अन्य उलटे-सीधे उदाहरण देकर उन्हें आधुनिक विज्ञान की खोजों से जोड़कर दिखाया जाता है। अब जब यह प्रवृत्ति इस रूप में बड़े पैमाने पर चारों तरफ दिखाई देने लगती है तो इसे एक सिंड्रोम कहना ही उचित होगा-- जगदगुरु सिंड्रोम।

भारतीय चित्त सदा से यही मानता रहा है कि उसके शास्त्र सर्वश्रेष्ठ हैं, उसका समाज और नीति सबसे श्रेष्ठ है। हालाँकि ऐसी खुशफहमी सब देशों में सब संस्कृतियों में एकसमान रूप से चलती है, यहाँ तक कि घने जंगलों में बसे बर्बर कबीले और जनजातियाँ भी खुद को संसार में सर्वश्रेष्ठ और ईश्वर द्वारा चुनी हुई मानती हैं। लेकिन भारत में ये प्रवृत्ति अपने सबसे गम्भीर रूप में विद्यमान है। इसके तीन बहुत बड़े कारण हैं, पहला कारण ऊपर बतलाया जा चूका है-- ''यूरोपीय आकाओं के षडयंत्रों के खिलाफ एक प्रतिक्रिया।'' दूसरा कारण है ''भारत का धुँधला और अलिखित इतिहास'' और तीसरा और सबसे बड़ा कारण है ''भारत की पुराण लिखने की प्रवृत्ति।''

पहला कारण हम समझ चुके हैं। दूसरा कारण भी कम मजेदार नहीं है। इस देश में बहुत सारे अच्छे और बुरे कारणों से राजनीतिक या सामाजिक घटनाओं का इतिहास नहीं लिखा गया है। और तो और प्राकृतिक घटनाओं तक का इतिहास नहीं लिखा गया है। इतिहास में भयानक बाढ़, भूकम्प, प्राकृतिक आपदाएँ आती रही हैं, उनका कोई रिकॉर्ड नहीं है। राम, कृष्ण, बुद्ध सहित अन्य सभी अवतारों या सिद्धों की भी कोई व्यवस्थित वंशावली या ऐतिहासिक रिकॉर्ड इस देश के पास नहीं है। इस अर्थ में बहुत दुर्भाग्यपूर्ण बात है कि भारत में एक विकसित समय बोध और इतिहास बोध का गम्भीर अभाव शुरू से ही रहा है। और जैसा कि एक कहावत कहती है ''आप समय का ख्याल नहीं रखोगे तो समय भी आपका ख्याल नहीं रखेगा'' भारत के साथ भी यही हुआ है। हम अपना इतिहास नहीं सम्भाल सके हैं, इसलिए अब दूसरों का लिखा इतिहास हमें सम्भाले हुए है।

अब भारत के इस अलिखित इतिहास में बहुत सारे खाली स्थान हैं। इन खाली स्थानों में आज के देशभक्त और अत्यधिक कल्पनाशील सांस्कृतिक पुनरुत्थानवादी अपनी कल्पनाओं का प्रक्षेपण करते हैं। ये ठीक वैसा ही है जैसे आसमान के विराट खालीपन में बादलों के टुकड़ों में आप जो चाहें वह देख लेते हैं-- कोई टुकड़ा आप चाहें तो हाथी या ऊँट बन जाता है या फिर आप शेर-चीता भी बना सकते हैं। भारत का अलिखित इतिहास ऐसा ही विराट आकाश है और यहाँ-वहाँ फैले कुछ उल्लेख उन बादलों के समान हैं जिनको मनचाहे ढंग से जोड़कर आप कुछ भी देख सकते हैं। और ठीक यही हो भी रहा है।

तीसरा और सबसे बड़ा कारण भी समझ लें, वह है भारत में पुराण रचने की प्रवृत्ति। असल में भारत में तथ्यात्मक इतिहास के बजाय चमत्कारिक घटनाओं से भरे पुराण लिखे गये हैं। ये असल में समाज के सामूहिक

मनोविज्ञान को नियंत्रण में रखने के उपकरण हैं। इनके अपने उपयोग हैं, अच्छे भी और बुरे भी। पुराण की अच्छी बात यह है कि इनमें राजवंशों या देशों, समाजों के युद्धों या हत्याओं का तथ्यात्मक उल्लेख नहीं किया जाता, इसलिए भविष्य में साम्राज्यों या सभ्यताओं की रंजिशों पर विराम लग जाता है। साथ ही उन युद्धों या संघर्षों की सारभूत शिक्षा को दैवीय पात्रों या देवी-देवताओं की कहानियों के जरिये जनमानस में प्रतिष्ठित भी कर दिया जाता है। लेकिन इसका सबसे खतरनाक पहलू यह है कि इन पुराणों को लिखनेवाला वर्ग अपने आप को सदा-सदा के लिए सुरक्षित और श्रेष्ठ बनाने के लिए स्वार्थवश ऐसी बातें भी लिखता रहता है जो पूरे देश को मानसिक रूप से गुलाम बनाये रखती है। भारत में वर्ण और जाती के दुर्भाग्यपूर्ण विभाजन इसी का परिणाम हैं।

अब ये पुराण, जिनमें चमत्कारिक वर्णन हैं-- उन चमत्कारों में आधुनिक विज्ञान की खोजों को प्रक्षेपित करना बहुत आसान है। उदाहरण के लिए आदि शंकराचार्य के जीवन में एक कथा आती है, उन्होंने अपनी माँ को वचन दिया था कि माँ के अन्त समय पर वे चाहे कहीं भी हों, उनसे मिलने चले आयेंगे। कथा आगे कहती है कि शंकर की माता जैसे ही प्राण त्यागने को हुई, शंकर उड़ते हुए आ पहुँचे। अब ये एक पुराण कथा है। यहाँ उड़कर आने का मतलब है तेजी से आना। तेजी से आने को उड़कर आना कहना एक तरह की काव्य की बात है, इसका वैज्ञानिक तथ्य से कोई मतलब नहीं।

इसी तरह गणेश के सर काटने की कथा का भी अपना मिथकीय सौंदर्यशास्त्र है। उसकी अपनी यौगिक या तांत्रिक व्याख्याएँ हैं, लेकिन उसका आधुनिक जीवशास्त्र या भौतिक शास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं। अब शिव द्वारा गणेश के सर काटने की घटना को ही लीजिये। वर्षों बाद अपनी पत्नी से मिलने आ रहे तांत्रिक शिव (जो हो सकता है काम उन्मत्त हों) को गणेश द्वार पर रोक लेते हैं। इस तरह काम के मार्ग में बाधा आने से क्रोध उत्पन्न होता है। कामजनित इस क्रोध को भारतीय दर्शन में अंधा माना गया है और इस अर्थ में अंधे और उत्तेजित होकर शिव अपने ही पुत्र का सर काट देते हैं। इसका एक अर्थ यह हुआ कि काम और क्रोध के आगे सर यानी बुद्धि का कोई बल नहीं चलता। फिर गणेश का सर वापस लगाया जाता है, तो हाथी का सर लगाया जाता है। यहाँ भी सुन्दर प्रतीक है, स्वयं को काम और क्रोध का गुलाम बनता देखने के बाद शिव में जैसा वैराग्य भाव या आत्मसाक्षात्कार भाव का उदय होता है, तब उस भाव के परिणाम में वे अपने पुत्र को महाज्ञानी बनाना चाहते हैं। इसी ज्ञान को हाथी से सर की अभिव्यक्ति दी गयी है। हर पिता चाहता है कि जो भूल उससे हुई उसके पुत्र से न हो। अब गणेश को शिव हाथी का सर लगाते हैं। हाथी एक शान्त, बुद्धिमान और गैर कामुक पशु माना जाता है।

इस तरह पुराण कथाओं के अनेक अर्थ हैं और हर सम्प्रदाय के लिए इन अर्थों के अनेक विशिष्ठ पहलू हैं। भारत के योग और तंत्र साहित्य में ऐसे अनेक मिथक हैं जिन्हें उन सम्प्रदायों की साधना पद्धतियों और साधना के मनोविज्ञान के साथ रखकर व्याख्यायित करना होता है। ऐसे ही सीधे-सीधे उनमें हेड ट्रान्स्प्लान्ट, या जेनेटिक इंजीनियरिंग या राकेट साइंस ढूँढ लेना मूर्खतापूर्ण काम है जिससे सब भारतीयों को बचना चाहिए।

लेकिन क्या इसका अर्थ यह है कि भारत के इतिहास में दर्शायी गयी सारी श्रेष्ठताएँ प्रक्षिप्त हैं? नहीं ऐसा भी नहीं हैं। कुछ बहुत ज्ञात उदाहरण हैं जो भारत को निश्चित ही महान सभ्यता और ज्ञान का खोजी सिद्ध करते हैं। उदाहरण के लिए शून्य का आविष्कार, खगोल विज्ञान की अनेक मान्यताएँ, सौर मंडल का विज्ञान, सूर्य और चन्द्र ग्रहण का सटीक अनुमान, आयुर्वेद, धातु विज्ञान और अन्य अनेक ज्ञान की विधाओं में न सिर्फ शुरुआती कदम भारत में उठाये गये, बल्कि बहुत ऊँचाई तक उन्हें विकसित किया गया है। लेकिन इस तथ्य को मानते हुए अगर यह भी कहा जाय-- कि हमारा ज्ञान तो इतना उन्नत था कि आज के परमाणु बम, जेनेटिक इंजीनियरिंग, रॉकेट साइंस, परग्रही जीवों से सम्पर्क इत्यादि सब यहाँ हजारों साल पहले हो चुका था, तो यह कहना न सिर्फ अतिशयोक्तिपूर्ण है बल्कि मूर्खतापूर्ण भी है।

विशेष रूप से वे लोग जो इस देश से सच में प्रेम करते हैं और इस देश का भला सोचते हैं, उन्हें इस तरह की मूर्खताओं को समर्थन देना बन्द करना चाहिए। इस तरह का 'अतीत प्रक्षेपण'' अगर यूँ ही चलता रहा तो न सिर्फ हम पश्चिमी देशों की नजरों में मूर्ख सिद्ध होंगे, बल्कि हमारी अगली पीढ़ी जो बहुत तार्किक और वैज्ञानिक ढंग से सोचने लगी है, वह भी हमें हमारी ''महान संस्कृति'' सहित खारिज कर देगी। अगर भारतीय इतिहास में कहीं महान आविष्कार या तकनीक या ज्ञान का कोई अंश था, तो उसे उसके मूल रूप में जिन्दा करके दिखाने से लोग उसमें भरोसा करना सीखेंगे। सिर्फ दो-चार शब्दों की समानता के आधार पर पूरी की पूरी आधुनिक खोज को ऋषि मुनियों के खाते में डालने का प्रयास हमारे पूर्वजों का भी परिहास है।

**धरती जल रही है, मौसम चक्र बदल रहा है, नदियाँ सूख रही हैं या गन्दे नालों में बदल दी गयीं हैं, हरी-भरी धरती रेगिस्तान बनती जा रही है, वनस्पितयाँ, पेड़-पौधे, जीव-जन्तु और यहाँ तक कि मानव जाति के सामने अस्तित्व का ही संकट उत्पन्न हो गया है।**

**पर्यावरण को तबाह करनेवाले ऐश कर रहे हैं और आम जनता उनके पापों का परिणाम भोगने को मजबूर है। धरती पर मण्डराते इस संकट से आँख चुराना सुतुर्मुर्ग जैसा व्यवहार होगा।**

**इस संकट के परिणाम, असली कारण और इसके समाधान जानने के लिए पढें--*देश-विदेश पुस्तिका पर्यावरण संकट : कौन है इसका जिम्मेदार।***

***सामयिक विषयों पर देश-विदेश द्वारा प्रकाशित पुस्तिकाओं के लिए* सम्पर्क करें।**

**-अतुल कुमार : 09810104481**

# रोहतक : लड़कियों की बहादुरी पर बबाल

**–सुभाष चन्द्र**

**पितृसत्ता और जातिवादी** वर्चस्व के गठजोड़ से ही हरियाणा में दबंगई का समाजशास्त्र रचा जाता है। सरकारें इस गठजोड़ के आगे बार-बार घुटने टेकती व मिमियाती हैं। इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हरियाणा की जनता पिछले कई वर्षों से देख रही है। दबंग जाति का व्यक्ति सत्ता के शीर्ष पर था, तो कमजोर लोगों पर हुए अत्याचारों के मुकदमें तक दर्ज नहीं होते थे। दबंगई से तंग आकर ही लोगों ने इस सरकार को सत्ता सौंपी है। रोहतक जिले की बस में लड़कियों से छेड़छाड़ के मामले में एक बार फिर दबंगई का नजारा दिखाई दे रहा है। हरियाणा की राजनीति में सत्ता से बाहर हुए लोगों ने अपना सामाजिक दबदबा बनाये रखने के लिए इस घटना के बहाने सरकार पर धावा बोला और सरकार ने उनके दबाव में आकर अपनी घोषणाओं पर ही रोक लगा दी।

रोहतक जिले में बस में छेड़छाड़ की घटना का वीडियो के मीडिया में अत्यधिक प्रसार के बाद प्रशासन हरकत में आया और दोषियों को गिरफ्तार किया। बस के चालक-परिचालक को निलम्बित कर दिया। सरकार ने लड़कियों की बहादुरी को रेखांकित करते हुए पुरस्कार की घोषणा कर दी। इन दो बहनों ने अपनी रक्षा करके एक उदाहरण प्रस्तुत किया था कि लड़कियों को स्वयं हर स्थिति से निपटना होगा। उनकी कार्रवाई का सरकार ने भी उचित ही संज्ञान लिया था। समाज में इसका सन्देश सही जा रहा था, लेकिन दबंगों को यह गवारा नहीं था।

उसके बाद शुरू हुआ दबंगई का खेल। जिसमें पहले तो समझौते के लिए लड़कियों के परिवार पर दबाव डाला गया। कानून की सजा से बचाने के लिए लड़कों को झूठ-मूठ की सजा दी गयी, थाने में ही लड़कों के परिवार ने उनकी पिटाई की। लेकिन जब लड़कियों ने समझौता नहीं किया तो प्रशासन व सरकार पर सामाजिक दबाव बनाने की जुगतें लड़ाई गयीं।

एक दूसरा वीडियो जारी हुआ, जिसमें यही दोनों लड़कियाँ किसी मनचले को पीट रहीं हैं। सूत्रों से पता चला है कि यह वीडियो लड़कियों ने नहीं, बल्कि पिट रहे लड़कों ने उपलब्ध कराया है। इसके बाद लड़कियों पर लाँछन लगाने की मुहिम शुरू हो गयी। दूसरे वीडियो से यह निष्कर्ष निकाला गया कि बेकसूर लड़कों को पीटना इन लड़कियों का स्वभाव है। इनके उग्र मनोविज्ञान के किस्से प्रचारित होने लगे। लड़कियों को संदेह के घेरे में डाल दिया गया, जबकि इससे यह भी पता लगता है कि लड़कियाँ अपनी मानवीय गरिमा की रक्षा के लिए हमेशा तत्पर रही हैं। दूसरी विडीयो से वे दोषी नहीं हो जातीं, बल्कि उनकी बहादुरी ही उद्घाटित होती है। होना तो यह चाहिए था कि दूसरी वीडियो में जो लड़का पिट रहा है, उसके खिलाफ भी कानूनी कार्रवाई होती। उससे पूछताछ के बाद सच्चाई सामने आ जाती कि वीडियो लड़कियों ने बनाया है या किसी लड़के ने। इस वीडियो के जारी करने की वजह स्पष्ट हो जाती कि यह इन लड़कियों को बदनाम करने के लिए ही इस मौके पर जारी किया गया है।

दबंग जाति के लड़कों को बचाने के लिए एक कहानी गढ़ी गयी, गवाह तैयार किये गये। छेड़छाड़ की घटना को सीट के झगड़े तक सीमित करने का प्रयास किया गया। इसमें सीट का झगड़ा भी होगा, लेकिन छेड़छाड़ तो शामिल है ही। दूसरा वीडियो आने के बाद वह बात गायब हो गयी, जो लड़कियों ने पहले कही थी कि लड़कों ने उनकी ओर कागज फेंका, उन्होंने बस के चालक-परिचालक से मदद को कहा। बस की सभी सवारी मौके पर तटस्थ बनी रही। किसी के झगड़े में न पड़ना ही जिनके सुखी जीवन का मूलमंत्र है वे लड़कों के प्रति हो रहे कथित अन्याय के खिलाफ शपथ पत्र देने लगे। मीडिया में आकर बयान देने लगे और लड़कियों को ही दोषी करार दिया जाने लगा। इस मुहिम में दबंग समाज के बड़े-बड़े चौधरी कूद गये। मीडिया दोषी लड़कों और लड़कियों को आमने सामने बिठाकर लोगों का मनोरंजन करते हुए बहस को अलग ही रूप देने लगा। मीड़िया के इस गर्दो-गुबार में सच्चाई गुम हो गयी।

महिला सुरक्षा का मामला वैसे तो पूरे देश में गम्भीर है, लेकिन हरियाणा में कन्या-भ्रुण हत्या और लिंग अनुपात में कमी से लेकर स्त्री के प्रति अपराधों की चिन्ताजनक स्थिति है। लड़कियों से छेड़छाड़ तो इस हद तक गम्भीर है कि हर शहर-कस्बे के कन्या स्कूलों और महाविद्यालयों के सामने पुलिस के सिपाही तैनात करने पड़ रहे हैं। विशेषतौर पर स्कूलों और महाविद्यालयों में पढ़नेवाली छात्राएँ बसों में छेड़छाड़ से परेशान हैं। इससे तंग आकर माता-पिता उनकी पढ़ाई तक को छुड़वा देते हैं।

लड़कियों का यह कहना कि वे पिछड़ी जाति से हैं, इसलिए उनके खिलाफ ये हो रहा है, मामले को और गम्भीर व अलग पहलू का उद्घाटन करता है। अनुभव ये बता रहा है कि गाँव में अनुसूचित व पिछड़ी जातियों की लड़कियाँ सरकारी सुविधाओं का लाभ उठाकर शिक्षा प्राप्त कर रही हैं, जबकि कथित उच्च जाति की लड़कियों को उनके परिवार बाहर नहीं भेज रहे हैं। पिछड़े समाज की लड़कियाँ उच्च व दबंग जातियों के लड़कों की कुंठाओं का शिकार होती हैं। जब भी और जहाँ भी इनको मौका मिलता है, तभी ये लड़कियों की मानवीय गरिमा को चोट पहुँचाते हैं। इस घटना की विशिष्टता यह है कि लड़कियों ने इनकी दबंगई को सहन नहीं किया और उनकी पिटाई कर दी। इससे पूरे दबंग समाज को लगा कि यह कुछ असामान्य घटित हो रहा है और अपने तमाम अस्त्रों-शस्त्रों के साथ पिल पड़ा।

इस मामले ने इसलिए भी इतना तूल पकड़ा कि इन लड़कों ने सेना की शारीरिक परीक्षा पास कर ली थी और सेना ने इनकी पात्रता को रद्द कर दिया। लोगों को लगा कि इनका तो पूरा कैरियर ही बरबाद हो गया। जबकि इनकी गलती कुछ भी नहीं थी, क्योंकि महिलाओं के साथ छेड़छाड़ को कोई बड़ा अपराध नहीं माना जाता। लोगों को लगा कि ज्यादती तो लड़कों के साथ हुई है। इसलिए इन्हें लग रहा है कि असामान्य व्यवहार तो लड़कियों का है, न कि लड़कों का। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि भरी बस में लड़कियों के साथ क्या छेड़छाड़ हो सकती है। छेड़छाड़ से उनका अर्थ शायद बलात्कार से है। छेड़छाड़ की परिभाषा काफी व्यापक है, जिसमें भाषा या संकेतों से किसी स्त्री की मानवीय गरिमा को ठेस पहुँचाना भी शामिल है। लड़कियों के प्रति असंवेदनशील लोग इसे कभी समझ नहीं सकते।

यह भी देखना दिलचस्प होगा कि छेड़छाड़ या महिलाओं के प्रति अपराधों में समाज के किस वर्ग के लोग आमतौर पर शामिल हैं, तो पता चलेगा कि ये कमजोर वर्गों को सबक सिखाने का एक ढँग है। जिस समाज में लड़की को घर और गाँव की इज्जत समझा जाता हो उस समाज में छेड़छाड़ करने की हिम्मत कहाँ से और किसे आती है। पिछले समय में हरियाणा में घटित घटनाओं पर नजर डालने से स्पष्ट तौर पर इसे समझा जा सकता है। इन लड़कियों का कसूर सिर्फ इतना है कि एक तो ये लड़कियाँ हैं और इन्होंने मर्दानगी को ललकारा है। दूसरा ये पिछड़ी जाति से सम्बन्धित हैं और इन्होंने कथित दंबगों को ललकारा है। उनकी पीड़ा ये है कि राजनीतिक चौधर तो गयी, यदि सामाजिक वर्चस्व भी समाप्त हो गया तो फिर हेकड़ी किसको दिखायेंगे?

समाज के कमजोर वर्ग, विशेषतौर पर महिला और पिछड़ी या अनुसूचित जाति की महिला जब अपनी मानवीय गरिमा के लिए दबंगई का विरोध करती है, तो दबंग समाज को अपने हाथ से सत्ता खिसकती हुई दिखाई देती है। सोशल मीडिया में लड़कियों के खिलाफ जिस तरह का घृणित अभियान छेड़ा गया, इस मुहिम में जातिवाद व पितृसत्तात्मकता की बू आ रही है। यह स्वाभाविक नहीं, बल्कि सब प्रायोजित है। जिस तरह यह प्रसंग हुआ वह हमारे समाज के जातिवादी वर्चश्व और पितृसत्तात्मक चरित्र को उद्घाटित करता है। दबंगों के विभिन्न संगठन, पंचायतें, पार्टियों आदि में बैठे लोग एकजुट होकर छेड़छाड़ करनेवाले लड़कों बचाने के लिए अपनी शक्ति झोंक रहे हैं। निष्पक्ष जाँच के नाम पर सभी लड़कियों को कटघरे में खड़ा कर रहे हैं। क्या सरकार से यह उम्मीद की जा सकती है कि वह दबंगों के दबाव में न आकर उचित कार्रवाई करेगी। क्या समाज के सभी वर्गों को गरिमापूर्वक जीने का अवसर मिल पायेगा? क्या मुख्यधारा की किसी भी राजनीतिक पार्टी की कार्यसूचि में जातिवाद और पितृसत्ता के वर्चश्व को चुनौती देना शामिल है? दरअसल एक व्यापक जन आन्दोलन ही इन सामाजिक बुराइयों का अन्त कर पायेगा?

# छत्तीसगढ़ का नसबन्दी शिविर महिलाओं से जानवरों जैसा व्यवहार

**-आशू वर्मा**

**विगत दिनाँक 8** नवम्बर को छत्तीसगढ़ के बिलासपुर में आयोजित नसबन्दी शिविर में 16 महिलाओं की हृदयविदारक मौत ने सभी को झिंझोड़कर रख दिया है। एक अस्पताल में एक दिन में नसबन्दी के अधिकतम 30 ऑपरेशन के सर्वोच्च न्यायालय के आदेश की धज्जियाँ उड़ाते हुए यहाँ चूहे-बिल्ली की तरह 83 औरतों के ऑपरेशन कर दिये गये। 5 घंटे में 83 ऑपरेशन!! ऑपरेशन के दोरान कई औरतें या तो पूरी तरह बेहोश नहीं हुई थीं या औपरेशन के बीच में ही उन्हें होश आ गया, क्योंकि बेहोश करनेवाली दवाई सम्भवत नकली थी। होशो-हवास में औपरेशन के कारण औरतों को भयंकर और असहनीय पीड़ा झेलनी पड़ी। बाद में पता चला कि सरकारी अस्पताल को जिस दवा कम्पनी की ओर से दवाई की आपूर्ति की जाती है वह कई बार दोषी पायी गयी है। फिर भी पता नहीं किस लालच में उसे दवा आपूर्ति का ठेका मिलता रहा है।

नसबन्दी पूरा होने के 5 मिनट के अन्दर ही मरीज औरतों को एक-एक पुड़िया देकर घर भेज दिया गया जबकि आदेशानुसार नसबन्दी ऑपरेशन के बाद मरीज को रात-भर अस्पताल के स्टाफ की निगरानी में रहना होता है। इससे भी भयानक बात यह थी की उन्हें जो दवाई दी गयी उसमें चूहा मारने की दवा मिली थी, जिसने 16 औरतों की जान ले ली। एक साधारण से ऑपरेशन में 16 महिलाओं की जानें चली गयीं। महज इसलिए कि उन्हें इंसान नहीं माना गया। वे गरीब थीं, अनपढ़ थीं या कम पढ़ी-लिखी थीं और उन्हें पैसों की जरूरत थी। जिस भारत में गुर्दा प्रत्यारोपण या हृदय के गम्भीर ऑपरेशन भी बेहद सरल हो चुके हैं, वहाँ नसबन्दी जैसे, बेहद मामूली ऑपरेशन, जिसमें जान का खतरा बिलकुल नहीं होता, उसमें भी 16 महिलाओं को एक ही अस्पताल में अपनी जान देनी पड़ती है। यह तथ्य चिकित्सा सेवा के मामले में अमीर और गरीब के बीच बढ़ती खाई को उजागर करता है।

बिलासपुर के नसबन्दी शिविर में 16 महिलाओं की मौत ने भारत सरकार और छत्तीसगढ़ सरकार के परिवार-नियोजन कार्यक्रम की पोल खोल दी है। उन अभागी औरतों को स्वास्थ्य कर्मियों ने 1000 रुपये की प्रोत्साहन राशि का लालच देकर कैम्प में लाया था। कैम्प तक लानेवाले स्वास्थ्य कर्मी को भी इसके बदले में प्रोत्साहन राशि मिलती है। छत्तीसगढ़ के सामुदायीक स्वास्थ्य केन्द्र के एक डॉक्टर को एक साल में 800 नसबन्दी का लक्ष्य पूरा करना होता है। जो इस लक्ष्य को पूरा कर लेता है उसे छत्तीसगढ़ सरकार सार्वजनिक रूप से पुरस्कृत करती है और यदि कोई डॉक्टर लक्ष्य को पूरा नहीं कर पाता तो उसे सरकार द्वारा सार्वजनिक तौर पर अपमानित किया जाता है। डॉ आर के गुप्ता जिनके नेतृत्व में 83 औरतों का नसबन्दी ऑपरेशन हुआ उन्हें पिछले साल 50,000 महिलाओं के ऑपरेशन का आँकड़ा

पूरा होने पर मुख्यमंत्री द्वारा पुरस्कृत किया गया था।

इस हादसे की शिकार औरतों को पहले तो रेवड़ की तरह इकट्ठा कर लाया जाता है क्योंकि सरकारी कर्मचारियों को अपनी नौकरी बचाने के लिए सरकार द्वारा निर्धारित लक्ष्य पूरा करना होता है। फिर अर्द्ध बेहोशी की हालत में ही अनकी चीर-फाड़ शुरू हो जाती है। यदि वे मर जाती हैं तो सरकार की ओर से निश्चित मुआवजा मिलना कठिन होता है, क्योंकि उनके परिवारवालों के पास नसबन्दी करवाने का कोई प्रमाण पत्र नहीं होता। भारत सरकार के नियमानुसार नसबन्दी करवानेवाली प्रत्येक महिला को नसबन्दी के बाद एक प्रमाण पत्र दिया जाता है। कारण यह कि प्रमाण पत्र न होने पर कोई मरीज या उसका परिवार ऑपरेशन के बाद मरीज की हालत बिगड़ने या कोई अन्य समस्या पैदा होने या फिर मृत्यु होने पर निर्धारित मुआवजे की माँग भी नहीं कर सकता। दूसरे, ऑपरेशन के दौरान हुई लापरवाही के कारण यदि किसी डॉक्टर को हटाया जाता है या दंडित किया जाता है तो वह उच्च न्यायलय की शरण में चला जाता है और पैसे के दम पर मुकदमा जीत जाता है।

एक आँकड़े के अनुसार भारत में नसबन्दी शिविरों में हर महीने 15 औरतें मरती हैं। स्वास्थ्य मंत्रालय के परिवार नियोजन विभाग के नसंबदी के कुछ समय बाद 675 औरतों की मौत हुई।

अधिकांश सरकारी अस्पतालों में नसंबदी ऑपरेश्न के दौरान डॉक्टरों के हाथों में न तो मेडिकल दस्ताने होते हैं न साफ उपकरण और न ही साफ कपड़ा। भारत सरकार के नियमानुसार नसबन्दी करनेवाली टीम में 18 सदस्य होने चाहिए। जबकि हालत यह है कि एक डॉक्टर 1-2 अप्रशिक्षित स्टाफ के साथ घास काटने की तरह नसबन्दी कर के अपना लक्ष्य पूरा करते हैं।

जनवरी 2012 में बिहार के अररिया जिले के कपारफोर स्कूल में लगे एक नसबंसी शिविर में एक अकेले डॉटर ने एक दिन में 54 नसबन्दी के केस निपटाये। यानी एक औरत पर औसतन 2 मिनट का समय दिया गया। जबकि 2005 में सर्वोच्च न्यायालय ने निर्देश दिया था कि नसबन्दी के दौरान महिलाओं के सम्मान की रक्षा की जानी चाहिए। लेकिन यहाँ तो हर जगह गरीबी है और गरीबों का न तो कोई सम्मान रह गया है और न ही उनके जान की कोई कीमत। इन शिविरों में जो अक्सर अस्थायी रूप से बनाये जाते हैं, नसबन्दी करवाने वे ही महिलाएँ पहुँचती हैं, जो गरीब है, जिनका स्वास्थ्य पहले से ही बेहद खराब है, जिनमें खून की कमी है और जो बार-बार बच्चा जनने के कारण बेहद कमजोर हो चुकी हैं। भारत सरकार के निर्देशनुसार नसबन्दी के पहले महिलाओं को उनकी स्वास्थ्य की स्थिति की जाँचकर उन्हें जानकारी देनी चाहिए और सहमती पत्र पर उनके हस्ताक्षर होने चाहिए। परन्तु उनकी न तो पूरी जाँच होती और न इसकी जरूरत महसूस की जाती। बिलासपुर की 83 औरतों में से किसी को भी उनके पेशाब या खून भी जाँच की रिपोर्ट नहीं दी गयी।

जहाँ तक नसबन्दी शिविरों में मरनेवालों का सवाल है, उसमें बड़ी संख्या में औरतें ही होती हैं क्योंकि नसबन्दी करवानेवालों में 95 प्रतिशत औरतें ही होती हैं। 2011-12 के एक आँकड़े के अनुसार एक वर्ष में हुई कुल 49,06,430 नसबन्दी में 47.3 लाख (95 प्रतिशत) महिलाओं की नसबन्दी हुई और मात्र 1.75 लाख पुरुषों ने नसबन्दी करवायी। भारत जैसे पितृसत्तात्मक समाज में और क्या उम्मीद की जा सकती है। बच्चा पैदा करना। उसकी परवरिश करना और अनचाहे गर्भ को रोकना भी उसी की जिम्मेदारी मानी जाती है, भले ही उसकी सेहत इसकी इजाजत दे या नहीं? पुरुष न तो कोई गर्भ-निरोधक उपायों का इस्तेमाल करते हैं और न ही नसबन्दी के लिए तैयार होते हैं।

पुरुष नसबन्दी इसलिए भी नहीं करवाते क्योंकि उन्हें अपनी यौन शक्ति कम हो जाने का डर रहता है। उन्हें यह भी डर रहता है कि अगर ऑपरेशन सफल नहीं हुआ और उनकी पत्नी को गर्भ ठहर गया तो उनकी बदनामी होगी। इसी डर से औरतें भी नसबन्दी करवाने के लिए चुपचाप राजी हो जाती हैं, जबकि ऑपरेशन के बाद उन्हें कई तरह की शारीरिक परेशनियों से जूझना पड़ता है। जिस देश में सेक्स को लेकर तरह-तरह के अंधविश्वास फैले हैं, लिंग का आकार बढ़ाने, 'सेक्स-पावर' बढ़ानेवाले विज्ञापन अखबारों में खुलेआम छापते हैं और ऐसी उलटी-सीधी दवाएँ दवा दुकानों से लेकर सड़कों के किनारे बिकती है वहाँ हम कैसे उम्मीद करें कि पुरुष नसबन्दी करवाने में पहल करेगा। उसे तो अपना पुंसत्व नष्ट होने का खतरा सताता रहता है।

बिलासपुर, छत्तीसगढ़ की यह भयानक घटना भारतीय चिकित्सा व्यवस्था की पोल खोलती है और स्पष्ट कर देती है कि जब तक गरीबों के प्रति सरकार का रवैया उपेक्षापूर्ण रहेगा, 'अच्छे दिन' नहीं आयेंगे। जब तक कमजोर, हाशिये पर पड़े लोगों के प्रति सरकार का रुख सही नहीं होगा, जब तक सरकारी चिकित्सा व्यवस्था जनता के प्रति उत्तरदायी नहीं बनायी जायेगी, अमीरी-गरीबी की खाई बनी रहेगी, ऐसी घटनाएँ होती रहेंगी और औरतें अपनी बलि देती रहेंगी।

## हत्यारे

**सफेदपोश कितने हत्यारे**
**पहने अनगिनत चेहरे**
**अदृश्य अस्त्र लिए**
**रचते साजिशें अन्धियारों में**
**हिंसक अफवाहों के क्रूर**
**धमाकों से**
**जलाकर राख कर देते**
**बेगुनाह मासूम सच्चाइयों को**
**लेकिन**
**इसी राख के अन्दर से**
**सत्य का अग्निपक्षी**
**पंख फैलाकर उठ खड़ा होता है**
**फिर एक बार**
**पर एक सच यह भी तो है**
**नहीं बन पाता हर कोई अग्निपक्षी**
**जलाकर खुद को भी**
**नहीं साबित कर पाता खरा सोना**
**दफ्न कर दी जाती हैं**
**खामोश सच्चाइयाँ**
**बेखौफ घूमते हैं**
**हत्यारे।**

**--सरला माहेश्वरी**

# तुम मेरे लिए काले कपड़े मत पहनना

## (फाँसी से पहले एक बेटी की चिट्ठी अपनी माँ के नाम)

**-रेहाना जेब्बारी**

***(ईरान की एक युवा इंटीरियर डिजाइनर रेहाना जेब्बारी के हाथों 2007 में ईरान के एक खुफिया अफसर का कत्ल हो गया। इस अफसर ने उससे बलात्कार करने की कोशिश की थी। वह तभी से जेल में थी। अभी हाल ही में उसे फाँसी पर चढ़ा दिया गया। छब्बीस साल की रेहाना जेब्बारी का पक्ष कहीं सुना नहीं गया। दुनिया-भर के मानवाधिकार संगठनों ने उसके लिए आवाज उठायी, लेकिन सब बेकार साबित हुए। मौत से कुछ अरसा पहले रेहाना ने अपनी माँ को एक चिट्ठी लिखी। यह चिट्ठी उस लड़की के हौसले की मिसाल है और इस बात की भी कि कैसे एक अनमोल जिन्दगी खत्म कर दी गयी। यह पूरी चिट्ठी यहाँ प्रस्तुत है।)***

**प्यारी शोलेह, आज** मुझे पता चला कि अब 'किसास' (ईरानी न्यायतंत्र में प्रतिकार का कानून) का सामना करने की बारी मेरी है। मुझे इस बात से चोट पहुँची है कि तुमने खुद मुझे क्यों नहीं बताया कि मैं अपनी जिन्दगी की किताब के आखिरी पन्ने पर पहुँच चुकी हूँ। तुम्हें नहीं लगता कि मुझे जानना चाहिए था? तुम्हें पता है कि मैं इस बात से कितनी शर्मिंदा हूँ कि तुम उदास हो। तुमने मेरे लिए यह मौका क्यों नहीं निकाला कि मैं तुम्हारे और अब्बा के हाथ चूम सकूँ?

दुनिया ने मुझे उन्नीस साल जीने की मोहलत दी। उस बदकिस्मत रात, यह मैं थी जिसे मारा जाना चाहिए था। मेरा जिस्म शहर के किसी कोने में फेंक दिया गया होता, और कुछ दिन बाद, पुलिस तुम्हें कोरोनर के ऑफिस ले जाकर मेरे जिस्म की शिनाख्त करवा रही होती और वहाँ तुम्हें यह पता चलता कि मेरे साथ बलात्कार भी हुआ था। कातिल का कभी पता नहीं चलता, क्योंकि हमारे पास उतनी दौलत और ताकत नहीं है। फिर तुम अपनी जिन्दगी यातना और शर्मिंदगी के बीच जारी रखती और कुछ साल बाद उसी यातना से मर गयी होती और यह सब निबट गया होता।

बहरहाल, उस नामुराद वार के साथ कहानी बदल गयी। मेरा जिस्म किसी किनारे नहीं, बल्कि ईविन कैदखाने और उसकी तनहा कोठरियों में फेंक दिया गया और अब शहरे राय की कब्र जैसी कैद में है। मगर नसीब को कबूल करो और शिकायत न करो। तुम बेहतर जानती हो कि मौत से जिन्दगी खत्म नहीं हुआ करती।

तुमने मुझे सिखाया था कि इस दुनिया में हम एक तजुरबा हासिल करने और एक सबक सीखने आते हैं और हर जन्म के साथ हमारे कंधों पर एक जिम्मेदारी पड़ जाती है। मैंने जाना कि कभी-कभी हमें लड़ना पड़ता है। मुझे अच्छी तरह याद है, जब तुमने कहा था कि एक गाड़ीवान ने उस शख्स का विरोध किया, जो मुझ पर कोड़े बरसा रहा था, लेकिन कोड़े मारनेवाले ने उसके सिर और मुँह पर अपना चाबुक बरसाया और आखिरकार उसकी मौत हो गयी। तुमने मुझे बताया कि एक उसूल खड़ा करने के लिए डटे रहना चाहिए, भले इसके लिए मरना पड़े।

तुमने हमें सिखाया था कि जैसे हम स्कूल जाते हैं, हमें तमाम झगड़ों और शिकायतों के बीच औरत बने रहना चाहिए। क्या तुम्हें याद है कि तुम हमारे तौर-तरीकों पर कितना जोर देती थी? तुम्हारा तजुरबा गलत था। जब यह हादसा हुआ, तब मेरे सबक मेरे काम नहीं आये। अदालत में मेरी पेशी इस तरह हुई जैसे मैं कोई बेरहम मुजरिम और सख्तदिल कातिल होऊँ। मैंने एक भी आँसू नहीं बहाया। मैं गिड़गिड़ायी नहीं। मैं सिर पीटकर रोयी नहीं, क्योंकि मैं कानून पर यकीन करती थी।

लेकिन मुझ पर एक जुर्म को लेकर बेपरवाह रहने का इल्जाम लगा। तुम याद करो, मैं कभी मच्छर भी नहीं मारती थी और तिलचट्टों को उनके सिरे पकड़कर बाहर फेंक आती थी। अब मैं एक शातिर कातिल हो चुकी हूँ। जानवरों के साथ मेरे सलूक की व्याख्या इस तरह की गयी कि मुझमें लड़कों जैसा होने की चाहत के चिन्ह हैं और जज ने इस बात पर भी ध्यान देने की जहमत नहीं मोल ली कि हादसे के वक्त मेरे लम्बे और तराशे हुए नाखून थे।

इन जजों से इंसाफ की उम्मीद रखने वाला कितना आशावादी था? उसने कभी इस तथ्य पर सवाल नहीं खड़ा किया कि मेरे हाथ खिलाड़ियों जैसे- खासकर किसी मुक्केबाज जैसे- सख्त नहीं हैं। और इस मुल्क ने, जिसके प्रति एक मोहब्बत तुमने मेरे भीतर बोई, मुझे कभी नहीं चाहा और किसी ने मेरी मदद नहीं की, जब मैं पूछताछ करनेवालों की चोट से रो रही थी और बेहद अश्लील अल्फाज सुन रही थी। जब मैंने अपने बाल काटकर अपने-आप से अपनी सुन्दरता की आखिरी निशानी भी हटा दी तो मुझे इनाम मिला-- ग्यारह दिन की तनहाई। प्यारी शोलेह, जो तुम सुन रही हो, उस पर रोना मत। जब पुलिस के दफ्तर में पहले दिन, एक गैर-शादीशुदा बूढ़े पुलिसवाले ने मेरे नाखूनों के लिए मुझे चोट पहुँचायी, तब मैं समझ गयी कि इस जमाने में खूबसूरती की कोई कदर नहीं है- चेहरे की, खयालों और चाहतों की, खूबसूरती की, खूबसूरत हर्फों की, आँखों और नजर की खूबसरती और एक अच्छी आवाज की खूबसूरती की भी।

मेरी प्यारी अम्मी, मेरे खयालात बदल गये हैं और तुम इसके लिए जिम्मेदार नहीं हो। मेरे लफ्ज बेइंतिहा हैं और ये सब मैंने किसी को दे दिया है, ताकि जब मुझे तुम्हारी गैर-मौजूदगी और गैर-जानकारी में फाँसी दे दी जाय, तो

इन्हें तुम्हें सौंप दिया जाय। मैंने अपनी विरासत के तौर पर तुम्हारे लिए हाथ से लिखी काफी सामग्री छोड़ी है।

बहरहाल, अपनी मौत से पहले मैं तुमसे कुछ चाहती हूँ, कि तुम्हें ये मुझे किसी भी तरह, अपनी पूरी ताकत से देना है। दरअसल, यह इकलौती चीज है, जो मैं इस दुनिया से, इस मुल्क से और तुमसे चाहती हूँ। मुझे मालूम है, तुम्हें इसके लिए वक्त चाहिए।

इसलिए मैं अपनी वसीयत का एक हिस्सा तुमसे पहले कह रही हूँ। रोना मत और सुनो। मैं चाहती हूँ कि तुम अदालत जाओ और उनके सामने मेरी अर्जी रखो। मैं जेल के भीतर से ऐसी चिट्ठी नहीं लिख सकती, क्योंकि इसे जेल के प्रमुख की मंजूरी की दरकार होती है। इसलिए तुम्हें एक बार और मेरी खातिर, यातना झेलनी होगी। यह इकलौती चीज है और अगर इसके लिए तुम्हें गिड़गिड़ाना भी पड़े तो मैं इसका बुरा नहीं मानूँगी, हालाँकि मैंने तुम्हें कई बार कहा है कि मुझे मौत से बचाने के लिए किसी के आगे गिड़गिड़ाने की जरूरत नहीं।

मेरी रहमदिल अम्मी, प्यारी शोलेह, मेरी अपनी जिन्दगी से भी प्यारी, मैं मिट्टी में मिलकर सड़ना नहीं चाहती। मैं नहीं चाहती कि मेरी आँखें और मेरा जवान दिल धूल में मिल जाय। तो यह इंतजाम करने की इजाजत माँगो कि जैसे ही मुझे फाँसी पर लटकाया जाता है, मेरा दिल, मेरी आँखें, किडनी, हड्डियाँ और जो कुछ भी किसी को दिया जा सकता है, मेरे जिस्म से निकाल लिया जाय और उसे तोहफे के तौर पर दे दिया जाय, जिसे इसकी जरूरत हो। मैं नहीं चाहती कि इन्हें हासिल करनेवाले को मेरा नाम मालूम हो, वह मेरे लिए गुलदस्ते खरीदे या दुआ भी करे।

मैं तुम्हें तहे दिल से यह कह रही हूँ कि मैं नहीं चाहती कि मेरी कोई कब्र बने और तुम वहाँ आकर मेरा मातम मनाओ, यातना पाओ। मैं नहीं चाहती कि तुम मेरे लिए काले कपड़े पहनो। मेरे मुश्किल दिनों को भूलने के लिए जो भी हो सकता है, करो। मुझे हवाओं को दे दो, ताकि वे मुझे बहा ले जायें।

दुनिया हमें प्यार नहीं करती थी। यह हमारी किस्मत नहीं चाहती थी। और अब मैं इसके आगे हथियार डाल और मौत को गले लगा रही हूँ। क्योंकि अल्लाह की अदालत में मैं इंस्पेक्टरों पर इल्जाम लगाऊँगी, मैं इंस्पेक्टर शामलोऊ पर इल्जाम लगाऊँगी, मैं जज पर और मुल्क की सबसे बड़ी अदालत के जज पर इल्जाम लगाऊँगी, जिसने जब मैं जागी हुई थी, तब मुझे तोड़ दिया और मुझे तंग करने में कोई कसर नहीं छोड़ी।

अल्ला ताला की अदालत में मैं डॉ. फरवंदी पर इल्जाम लगाऊँगी। मैं कासिम शबनी और उन सब पर इल्जाम लगाऊँगी, जिन्होंने अपने झूठ या अपनी बेखबरी में मेरे साथ गलत किया, मेरे हक कुचले और इस बात की परवाह नहीं की कि कभी-कभी हकीकत उससे अलग होती है, जो दिखायी पड़ता है।

प्यारी नरमदिल शोहेल, उस दूसरी दुनिया में, मैं और तुम होंगे जो इल्जाम लगाएँगे और दूसरे होंगे जो कठघरे में होंगे। देखें, खुदा क्या चाहता है। मैं मरने तक तुम्हें गले लगाना चाहती थी। मैं तुमसे प्यार करती हूँ।

**(अनुवाद : प्रियदर्शन, जनसत्ता से साभार)**

# भारतीय 'मध्यवर्ग' आधी हकीकत, आधा फसाना

**–अमित इकबाल**

**कुछ दिन पहले** प्रख्यात निवेश बैंक गोल्डमैन सैक्स ने एक नसीहत दी कि सरकारी अफसरों को बुद्धि के आधार पर जिम्मेदारी दी जाय, न की अनुभव या उम्र के आधार पर। उनका कहना है की ऐसा नुस्खा अपनाने से भारत के विकास दर में एक प्रतिशत अंक की बढ़ोत्तरी होगी। ऐसी और भी कई अन्तरराष्ट्रीय संस्थाएँ, जैसे-- विश्व बैंक, अन्तरराष्ट्रीय मुद्राकोष, एशियाई विकास बैंक भी भारतीय अर्थतंत्र को लेकर बेहद चिन्तित हैं और भारत सरकार को ऐसी नसीहत देती रहती हैं। इसी राय-सलाह का नतीजा है कि हाल ही में श्रम कानूनों को लचीला किया जा रहा है। इसके लिए सफाई दी गयी है कि इससे देश में निवेश का बेहतर वातावरण बनेगा। लेकिन इसी के साथ यह सवाल जरूर पैदा होता है कि इस निवेश को खपाने के लिए इतने उपभोक्ता हमारे देश में हैं भी या नहीं? इसका भी जवाब उनके पास मौजूद है-- भारत की उर्वर धरती पर पैदा हुआ 'नव मध्यवर्ग'। अब इस श्रेणी में हमारी कुल आबादी के कितने लोग शामिल हैं इसको लेकर इन नसीहतबाज संस्थाओं में आपसी सहमती नहीं है। बहरहाल वे इस बात पर सहमत हैं कि इस देश की एक भारी आबादी पिछले दो दशक में गरीबी से सीधा छलाँग मारकर उस आर्थिक मुकाम पर पहुँच गयी है जहाँ उसको 'मध्यवर्ग' की उपाधि से विभूषित किया जा सकता है।

आइये देखते हैं कि इस मध्यवर्ग बारे में इन संस्थायों के दावे की हकीकत क्या है। राष्ट्रीय व्यवहारिक अर्थशास्त्र शोध परिषद (एनसीएईआर) का कहना है कि 2001-02 की जनगणना के मुताबिक 2004 में कुल 5.7 प्रतिशत लोग मध्यम वर्ग में शामिल थे। कुछ ही साल बाद 2007-08 की एक अन्य रिपोर्ट में इनका कहना था की भारत के कुल आबादी में 62 प्रतिशत लोग 'मध्य आय श्रेणी' में शामिल हो चुके हैं। इतनी उत्साहवर्द्धक रिपोर्ट पढ़कर इसी संस्था के एक पूर्व अध्यक्ष यह लिखने को मजबूर हो गये कि-- ''जैसा कि हमने पहले कहा था, भारत कि आबादी उसी ओर चलकर एक पिरामिड के बदले एक 'मोटू सेठ' बन गयी है जिसके पैर के रूप में बहुत कमसंख्यक गरीब, विशाल 'मध्यवर्गी' पेट और भारी संख्या में 'वित्तपतियों' से भरा सर है।'' इस दावे का समर्थन करते हुए विश्व बैंक और एशियन डेवलपमेंट बैंक (एडीबी) की भी रिपोर्टें आयी हैं जिसने इस तथ्य पर खास जोर देते हुए कहा है कि कुल 56 प्रतिशत भारतीय नागरिक इस 'विराट मध्यवर्गीय द्वीप' के निवासी हैं। इतनी जटिल गणना के लिए विश्व बैंक और राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण (एनएसएस) के आँकड़ों का इस्तेमाल किया गया है, जिसने 2 से 20 डॉलर प्रतिदिन उपभोग खर्च को मध्यवर्ग का

पैमाना माना था। मजेदार बात यह है कि 2 डॉलर प्रतिदिन खर्च करनेवाले अन्तरराष्ट्रीय कंगाली रेखा के भीतर आते हैं।

क्या इस देश कि गद्दी पर बैठने को लालायित पार्टियाँ और उनके नेता मध्यवर्ग के प्रति इस मनोहारी आकलनों से कुछ अलग सोचते हैं?

भाजपा के चुनाव घोषणापत्र में ये साफ कहा गया है कि ''भारत मे एक बड़ी तादाद 'मध्यवर्गीय' लोगों की है, जिनकी बुद्धि, समझदारी, और कार्यक्षमता विपुल है। इसके साथ ही एक नया मध्यवर्ग भी पैदा हुआ है जो गरीबी से सीधा छलाँग मारकर यहाँ पहुँचा है और अभी भी पैर जमाने कि कोशिश में लगा है।'' आगे घोषणापत्र कहता है कि इस मध्यवर्ग कि माँग है-- बेहतर सेवा, शिक्षा आदि जो सरकारी सेवा क्षेत्र उसको देने में अक्षम है। इसलिए जरूरी है के सेवा, शिक्षा आदि क्षेत्र में निजी संस्थाओं को हिस्सा लेने का मौका दिया जाय और इस बाजार को विकसित करने कि योजना बनायी जाय।

कांग्रेस पार्टी भी चुनाव में बुरी तरह हारने के बाद, अपनी हार के कारणों को तलाशते हुए भारतीय मध्यवर्ग के लिए जरूरी रोजगार और सामाजिक सुरक्षा योजनाओं के बीच सामजस्य न कर पाने को ही असफलता का कारण बताती है। अगर गौर से देखें तो ये समझने में देर नहीं लगती कि भाजपा का चुनावी वादा कांग्रेस की नीतियों को ही जारी रखना था, जिसे वह बड़ी बेशर्मी के साथ लागू कर रही है। इसमें गलतफहमी की कोई गुंजाइश नहीं है कि हमारे देश की राजनीति तथा अर्थनीति की बहस में यह मान लिया गया है कि भारत भूमि ने मध्यवर्ग पैदा करने के लिए पिछले कई सालों में अभूतपुर्व उर्वरता का परिचय दिया है, जिसका नतीजा यह है की दुनिया-भर के अरबपतियों में कई भारतीयों के नाम भी शुमार हुए हैं।

अब जरूरी है कि इन प्रचारों के पीछे आधार क्या है उसे ढूँढा जाय, जिसके बिना कोई भी दावा ज्यादा देर तक टिकता नहीं। पहली बात तो यह कि इन संस्थाओं द्वारा किये गये शोध में 'वर्ग' के अर्थ को लेकर आपस में मतैक्य नहीं है। एक शोधकर्ता दूसरे की बात पर सहमत नहीं है। ऐसी स्थिति में इस तथाकथित 'भारतीय मध्यवर्ग' का आकार नापने के लिए किसी एक पैमाने को कैसे प्रमाण मान लिया जाए? इन शोधपत्रों पर गौर करें तो यह भी देखने को मिलता है कि 'वर्ग' और 'श्रेणी' इन दो शब्दों को एक ही अर्थ में इस्तेमाल किया गया है, जिसके साथ राजनीतिक अर्थशास्त्र का कोई सम्बन्ध नहीं है। हाँ यह जरूर है कि इस मामले में सावधानी दिखाने में कुछ पश्चिमी विशेषज्ञ कोई भी कसर नहीं छोड़ते। लेकिन, ऐसे कुछ विशेषज्ञों को छोड़ दिया जाय तो बाकी बचे भारतीय और अनेक पश्चिमी विशेषज्ञों को लगता ही नहीं कि वे खुद भी 'वर्ग' और 'श्रेणी' के बिच का फर्क मानते या जानते हैं। विश्व बैंक के आँकड़ों से रिपोर्ट तैयार करनेवाले दो अर्थशास्त्री साफ शब्दों में कहते हैं कि वे इस शोध में सिर्फ आय-वर्ग के बारे में जाँच कर रहे हैं। उनका यह भी कहना है कि 'वर्ग' एक राजनीतिक-सामाजिक स्थिति दर्शानेवाला विभाजन है जो इन आँकड़ों से साफ नहीं होता।

बाकी विशेषज्ञ तो यह मानकर चल रहे हैं की इस झंझट में पड़ने का कोई मतलब ही नहीं है। इसलिए ज्यादातर शोध में यही आधार बनाया गया है कि आय या उपभोग-खर्च कितना है। यह बात जरूर है आय किसी नागरिक कि आर्थिक-सामाजिक स्थिति नापने का एक महत्त्वपूर्ण सूचक है, लेकिन एकमात्र सूचक नहीं है। जब हम किसी नागरिक की 'वर्गीय' स्थिति की बात करते हैं, तो वहाँ उत्पादन के साधनों की कार्रवाई के साथ उनका रिश्ता देखना जरूरी है। यानी उत्पादन के साधनों के साथ रिश्तों की जो अलग कड़ियाँ हैं वहाँ हम अपने आपको कहाँ पाते हैं। यह एक राजनीतिक-आर्थिक विभाजन है जिसको सिर्फ आय या उपभोग-व्यय के चश्मे से देखना सही नहीं है। यह देखना भी जरूरी होता है कि सामाजिक श्रम के संगठन में उस वर्ग विशेष की क्या भूमिका है। इन पहलुओं को छोड़कर ऐसा शोध अपना सामाजिक महत्त्व खोकर महज आँकड़ों का एक खेल बनकर रह जाता है।

समाज को ध्यान में न रखने के चलते जिस चीज की बहुत कम चर्चा हुई है वह इस समाज की सबसे खास और जटिल चरित्र - जातिप्रथा है। यही वह सामाजिक विभाजन है जो भारतीय समाज को बाकी समाजों से अलग करता है। और यही कारण है कि इन समाजशास्त्रियों ने कभी यह चित्र दिखाने की कोशिश ही नहीं की।

अब देखते हैं कि इनके अपने मानक क्या हैं। चूँकि सूचक के तौर पर उपभोग-खर्च को ही लिया गया है, जिसके दो रूप है-- सापेक्षिक व्यय और निरपेक्ष व्यय। सापेक्षिक व्यय यानी गरीब या धनी परिवार कि तुलना में ही किसी परिवार को मध्यवर्गीय माना जाता है। निरपेक्ष व्यय का अर्थ है कि किसी परिवार का व्यय किसी पूर्वनिर्धारित सीमा से कम है या ज्यादा, इसके आधार पर मध्यवर्ग का निर्धारण। सापेक्षिक रूप से देखा जाय तो उपभोग-व्यय की सूची में सबसे अधिक और सबसे कम खर्च करनेवालों के बीच, दोनों तरफ से बराबर दूरी पर स्थित व्यक्ति के व्यय को मानक मानकर यह तय किया जाता है कि कोई व्यक्ति किस उपभोग-श्रेणी का है। वहीं निरपेक्ष रूप से देखा जाय तो भूतपूर्व योजना आयोग का गरीबी रेखा का पैमाना सबसे मजेदार उदाहरण है। यानी दैनिक 32 रुपये खर्च करने पर आप गरीब, 50 रुपये खर्च करने पर मधयवर्ग, और 90 रुपये खर्च करने पर उच्चवर्ग में गिने जायेंगे। सामाजिक पहलुओं से कटे, नसीहत देनेवाले विश्व बैंक का कहना है कि ''भारत का 'मध्यवर्ग' मुश्किल से गरीबी रेखा के ऊपर जिन्दगी बिताते हुए लोगों की भीड़ है, खासकर ग्रामीण इलाकों में जो इस रेखा से बहुत ऊपर भी नहीं हैं और अन्तरराष्ट्रीय गरीबी रेखा से भी नीचे है।'' इससे जो बात समझ में आती है उसके दो पहलू हैं-- एक तो बाजारवादी सोच से बनाये गये मानक में सामाजिक पहलू गायब है। दूसरा, पूरी दुनिया में बाजारवाद को लागू करनेवाली संस्था के हिसाब से भी ये मानक कमजोर हैं। यानी इन मानकों के जरिये भी वे भारत कि आबादी में 'मध्यवर्ग' का अनुपात तय करने में नाकाम रहे।

हम देख चुके हैं कि इन बाजारवादी परिभाषाओं का समाज से कोई लेना-देना नहीं है। अब यह देखना जरूरी है कि हमारे बहुसंख्य देशवासियों की असली जिन्दगी कैसी है। आमदनी

या उपभोग के बारे में बात करते हुए यह साफ दिखाई देता है कि भारतीय समाज में मध्यवर्ग की संख्या गिरती जा रही है। रोजगार की स्थिति पर नजर डालने से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। इसे समझने के लिए कुछ तुलनात्मक तथ्य ही काफी हैं--

1. 1970 के दशक में नियमित मजदूरी/तनख्वाह पर काम करनेवालों का हिस्सा कुल रोजगार का 15.4 प्रतिशत था जो 2011-12 में बस 17.9 तक ही पहुँचा इसके बरक्श अनियमित मजदूरी पर काम करनेवालों कि संख्या 23.3 प्रतिशत से बढ़कर 29.9 पर पहुँच गया।

2. संगठित और असंगठित क्षेत्र को मिलाकर कुल 92 प्रतिशत कर्मचारी अनौपचारिक क्षेत्र में या ठेके पर कार्यरत हैं, जिनमें से 58 प्रतिशत संगठित क्षेत्र में ही काम करते हैं।

यानी आज सरकारी और संगठित, दोनों ही क्षेत्रों में स्थायी रोजगार बहुत कम हो गया है, असंगठित क्षेत्र की तो बात ही क्या!! जब स्थायी काम कि गारंटी न हो तब किसी परिवार की स्थिति 'मध्यवर्गीय कैसे हो सकती है?

अब देखते हैं की हमारे देश में आय का वितरण कैसा है--

1. कोटेक वेल्थ मैनेजमेंट की 2013-14 रिपोर्ट के मुताबिक भारत के केवल 1,17,000 परिवारों की कुल सम्पत्ति का मूल्य सकल घरेलू उत्पाद के 92 प्रतिशत के बराबर है।

2. स्विट्जरलैंड की एक प्रख्यात आर्थिक शोध संस्था क्रेडिट स्वीसे की 2014 की ताजा रिपोर्ट में कहा गया है कि भारत की कुल सम्पत्ति का 49 प्रतिशत यानी लगभग आधा केवल 1 प्रतिशत लोगों के हाथों में है। ऊपरी 10 प्रतिशत के पास 74 प्रतिशत सम्पत्ति है। तय है के वे आम लोग नहीं हैं। इसके बरख्श नीचे की आधी प्रतिशत जनता के पास सिर्फ 4.5 प्रतिशत सम्पत्ति है और सबसे निचले पायदान पर खड़ी 10 प्रतिशत जनता के पास 0.2 प्रतिशत सम्पत्ति है।

भारतीय समाज में मध्यवर्ग कि डाँवाडोल स्थिति दर्शाने के लिए ये तथ्य काफी हैं। निचोड़ यह कि सामाजिक श्रम में भागीदारी के हिसाब से देखें तो प्रत्यक्ष उत्पादन से इतर कामों में लगे मध्यमवर्गी तबके की हमारे देश में काफी बड़ी संख्या है। इसका कारण विकृत विकास है। लेकिन सामाजिक श्रम के उत्पाद में इस तथाकथित मध्यवर्ग को जो हिस्सा मिलता है, उस हिसाब से इसकी हैसियत अभावग्रस्त और मोहताज की ही है। निजी स्कूलों, अस्पतालों, दुकानों या दफ्तरों में काम करनेवाले सफेद कॉलर कर्मी चार-पाँच हजार रुपये हर महीना, कमाते हैं। यह बात किसी से छिपी नहीं है। उत्पादक श्रम में नहीं लगने के चलते भले ही इन्हें मध्यम वर्ग कहा जाय और वे भी इस भ्रम में जी लें, लेकिन इससे उनकी सच्चाई तो नहीं बदल जायेगी।

तब सवाल यह है की आखिर मध्यवर्ग की संख्या को लेकर इस झूठे प्रचार का मकसद क्या है? कहते हैं कि एक झूठ को सौ बार बोला जाये तो लोग उसे सच मानने को तैयार हो जाते हैं। हम सभी के साथ कुछ ऐसा ही हो रहा है। पिछले लोकसभा चुनाव को याद करें तो 'विकास', 'वृद्धि', 'अच्छे दिन', 'पुरानी बातों को भूल कर नयी दिशा में बढ़ना चाहिए' जैसी चर्चाएँ याद आती हैं। हर रोज कई-कई बार इन शब्दों की बमबारी करके हमें इस बात से सहमत करवा लिया गया था के वाकई हम अब गरीब नहीं रहे– सब ''मध्यवर्ग'' में शामिल हो चुके हैं। ऐसे में ''मध्यवर्ग'' के लिए 'गरीबी', 'बुनियादी अधिकार', 'रोजगार की गारंटी' चर्चा के विषय नहीं हो सकते। वरना जिस दौरान कुडानकुलम, जैतापुर, ढेंकानल की जनता अपनी घर-परिवार-जिन्दगी को उजड़ने से बचाने के लिए साम्राज्यवादी नीतियों के खिलाफ लड़ाई लड़ रही थी, तब हम 'गुजरात मॉडल' के नशे में कैसे चूर रहे? कैसे हम भूल गये 2002 में भी चुनाव से पहले 'गुजरात मॉडल' पेश किया गया था और इस बार भी मुजफ्फरनगर सहित उत्तर प्रदेश के कई इलाके में उसे ही दोहराया गया?

आज श्रम कानून में ढील और शिक्षा का बाजारीकरण जैसे कदम जितनी आसानी और बेशर्मी के साथ उठाये जा रहे हैं, उन्हें देखकर ऐसा लगता है इस काल्पनिक 'मध्यवर्ग' में बढ़ोत्तरी का प्रचार कहीं न कहीं इन नीतियों का विरोध न करने और इनसे सहमति जताने के लिए लोगों को बहलाना था। क्योंकि अगर हम सहमत हैं कि पिछले दो दशक की आर्थिक नीतियों ने इतनी बड़ी संख्या में गरीब जनता को ऊपर उठाकर मध्यवर्ग तक पहुँचाया है, तो आगे भी इस मानवद्रोही नव उदारवादी विकास मॉडल को स्वीकारने के लिए तथाकथित मध्यवर्गीय लोग खुशी-खुशी तैयार होंगे। किसी भी समाज में मध्यवर्ग कि संख्या कम होने के बारे में इन सलाहकार संस्थाओं की राय है कि ऐसी स्थिति में समाज तेजी से दो शत्रुतापूर्ण खेमों में बँट जाता है। जाहिर है कि तब जनता 'विकास' की जगह 'बुनियादी अधिकार' की माँग और देश की कुल आय का फायदा ज्यादा से ज्यादा लोगों तक पहुँचाने कि माँग को लेकर सड़कों पर आयेगी।

साफ शब्दों में कहें तो यह एक वैचारिक हमला है, जिससे हर कदम पर हमें उनकी आँखों में आँखें डालकर लड़ना पड़ेगा। इसके लिए जरूरी है कि हम समझें कि वे किस भाषा में और किन शब्दों में बात कर रहे हैं।

1991 के बाद नव उदारवादी बाजारवादी नीतियों के साथ ही मध्यवर्ग की गणना शुरू हुई थी। इसका सीधा मकसद यह अनुमान लगाना था कि आबादी का कौन-सा हिस्सा बाजार जाने और सामान खरीदने की हैसियत रखता है। इसके लिए कुछ ऐसे उपाय भी किये गये कि समाज के एक तबके को विशेषाधिकार देकर कृत्रिम तरीके से उसकी आमदनी बढ़ायी जाय, ताकि बाजार का कारोबार चल सके। पाँचवाँ ओर छठा वेतन आयोग इसी अवधि में बिना किसी आन्दोलन के गठित हुआ और आनन-फनन में उनके सुझाव लागू किये गये। यह देश की समूची जनता के विकास से मुँह मोड़नेवाले शासक वर्गों द्वारा अपने समर्थकों की एक छोटी टोली तैयार करने की दिशा में उठाया गया कदम था। लेकिन 25 वर्षों का अनुभव यही बताता है कि मध्यवर्ग की स्थिति डाँवाडोल है। जरूरत इस बात की है कि मुगालते में रहने और मुँगेरीलाल के हसीन सपने देखने की जगह मध्यवर्ग की उपाधि से विभूषित समुदाय जमीनी हकीकत को पहचाने और आमूल बदलाव की मुहिम का हिस्सा बने। यही हमारे देश और हमारे बहुसंख्य जनगण के हित में है, जिसका यह समुदाय भी अनिवार्य अंग है।

# नागार्जुन : जनकवि हूँ मैं साफ कहूँगा

**–अनिल राय**

**सामान्य जन नागार्जुन** के साहित्य के केन्द्र में है। नागार्जुन की गहरी जन-प्रतिबद्धता हिन्दी साहित्य में उन्हें एक विशिष्ट रचनाकार के रूप में प्रतिष्ठित करती है। इनकी रचनाएँ उस वृहत्तर जन-समाज को प्रतिबिम्बित करती हैं, जो प्रतिकूल और कठिन जीवन-दशाओं के बीच अपनी मुक्ति की आकांक्षा के साथ निरन्तर संघर्षरत है। यह शोषित-पीड़ित, जन-समुदाय नागार्जुन की रचनाओं का मुख्य विषय है। इनका सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, स्वप्न-संघर्ष सब कुछ नागार्जुन की रचना-दृष्टि में है। इसलिए, नागार्जुन का साहित्य अपने समय की जनता के प्रामाणिक इतिहास की तरह महत्त्वपूर्ण है।

नागार्जुन एक ऐसे साहित्यकार के रूप में विरल हैं, जिनकी रचनात्मकता के स्रोत जन-आन्दोलन रहे हैं। कदाचित यही कारण है कि वे जन-संघर्षों की ऊष्मा के एक विश्वसनीय सर्जक के रूप में अपनी अलग पहचान रखते हैं। इनके साहित्य में जनता अलग-अलग मोर्चों पर संघर्ष करती हुई भी विभाजित नहीं है। इसीलिए इनके साहित्य में जन-संघर्ष की एक मुकम्मल तस्वीर बनती हुई दिखती है। नागार्जुन की जन-प्रतिबद्धता केवल विचारधारा की प्रतिबद्धता नहीं है। यह अविच्छिन्न संवेदनात्मक संलग्नता है। यह ज्ञान और संवेदना, दोनों की संयुक्त प्रतिबद्धता है। इनके साहित्य में जिस आवेग, त्वरा और गहरे प्रभाव के साथ यह जन-जीवन अभिव्यंजित हुआ है, उसके पीछे इसी प्रतिबद्धता की शक्ति है। यही प्रतिबद्धता नागार्जुन को जनता के जीवन-यथार्थ के शोषण-उत्पीड़न से सम्बन्धित सामान्य सन्दर्भों से आगे जनता की शक्ति और प्रतिरोधों के यथार्थ से जोड़ती है। इन्हीं अर्थों में नागार्जुन की प्रतिबद्धता यथास्थिति के उद्घाटन तक सीमित नहीं, वह जन-क्रान्ति तक की यात्रा पूरी करती है।

नागार्जुन मूलतः एक जन-कवि हैं। एक वास्तविक जन-कवि के रूप में उन्होंने प्रायः कविता के बाहर छूट जानेवाले विषयों को महत्त्व दिया है। इनकी दृष्टि में वे सभी विषय-सन्दर्भ महत्त्वपूर्ण हैं, जो जन-जीवन के यथार्थ को उद्घाटित-प्रकाशित करने में उपयोगी हो सकते हैं और अपनी तार्किक निष्पत्ति में जन-विरोधी शक्ति-संरचनाओं के विरुद्ध जनता के संघर्ष में सहयोग कर सकते हैं। नागार्जुन अपनी कविताओं में बार-बार उस जनता के साथ संघर्षों में शामिल होते दिखते हैं, जो उनकी दृष्टि में वस्तुतः बहुत शक्तिशाली है। यही जन-शक्ति नागार्जुन की कविताओं की रचनात्मक शक्ति है। यह शक्ति प्रतिबद्धता के बिना असम्भव है।

नागार्जुन की जन-प्रतिबद्धता और उनकी राजनीतिक चेतना के बीच एक घनिष्ठ अन्तःसम्बन्ध है। जन-यथार्थ की जटिलताओं और उसके बहुरूपात्मक यथार्थ का निरूपण एक सतर्क राजनीतिक दृष्टि से ही सम्भव है। जनता के संकटों पर नागार्जुन की यह दृष्टि केन्द्रित है। जहाँ कहीं-भी तबाही और बर्बादी है, जहाँ कहीं-भी जनता के शोषण की क्रूर परिस्थितियाँ हैं, वहाँ नागार्जुन की कविता भी उपस्थित है।

नागार्जुन की कविता अपने समय और समाज की घनिष्ठ आलोचना है। वे अपनी कविताओं में अपने समय का एक विश्वसनीय समाजार्थिक-राजनीतिक पाठ तैयार करते हैं। इसमें तंत्र के चरित्र की समीक्षा के साथ जनता के स्वप्न और संघर्ष का दृश्यालेख मौजूद है। व्यवस्था की सुरक्षा में जुटे और उससे लाभ-लोभ के सम्बन्धों वाले वर्ग के यथार्थ के उद्घाटन के साथ सामान्य जन की प्रतिरोध-चेतना का निरूपण इस समग्र आलोचनात्मक पाठ का विषय है।

नागार्जुन का कवि-कर्म सामाजिक-रानीतिक कार्यभारों का एक हिस्सा है। वह एक सक्रिय सांगठनिक कार्यकर्त्ता जैसी भूमिका में अपने हिस्से का यह कार्यभार पूरा करते हुए दिखते हैं। इनके कवि-कर्म की होड़ प्रगतिशील-जनपक्षधर राजनीतिक कार्यक्रमों से है। वे उससे प्रतियोगिता करते मिलते हैं। वे वहाँ से प्रेरणा और प्रभाव भी ग्रहण करते हैं और उसकी क्षतिपूति भी करना चाहते हैं। इनका कर्म-क्षेत्र भाषा है, इसलिए यह सारा उद्यम, सारा संघर्ष भाषिक अभिव्यक्ति के विभिन्न रूपों में आकार ग्रहण करता है।

यदि नागार्जुन सामान्य मनुष्य के जीवन के रचनाकार हैं, तो यह कैसे सम्भव है कि मनुष्य अपने जीवन के प्रतिदिन के अनुभवों में जिस अराजकता और भ्रष्टाचार का सामना कर रहा है, वह रचना से बाहर छूट जाये। एक वर्ग-दृष्टि सम्पन्न रचनाकार वर्गीय शोषण के समग्र रूपों को अनावृत्त कर देने की रचनात्मक बेचैनी से भरा होता है। यह बेचैनी नागार्जुन की अनेक कविताओं में मुखरित होती हुई अनुभव की जा सकती है।

नागार्जुन की काव्य-संवेदना के विस्तार का स्रोत उनकी व्यापक जीवन-संवेदना है। वे विविधरूपात्मक जीवन-जगत के यथार्थ को उद्घाटित-प्रकाशित करनेवाले कवि इसलिए हैं कि पहले वे उसी यथार्थ-संसार के भीतर के संवेदनशील नागरिक हैं। जीवन से गहन परिचय और आसक्ति उनके कवि की पूर्वशक्ति है, उनकी अनुभूतियाँ उनकी रचनाओं का पूर्वाधार है। यही वह मौलिक शक्ति है, जिससे वे दुःखी-वंचित मनुष्यता की गहरी वेदना का मार्मिक आख्यान रच पाने में समर्थ होते हैं। कविताओं के आभ्यन्तर में संवेदना की ऐसी

सघन आवेगपूर्ण उपस्थिति वस्तुतः उनके अपने अन्तःकरण की ही सृजनात्मक प्रतिकृति है। जीवन-द्रव्य और कृति का यह अद्वैत नागार्जुन जैसे कवियों के यहाँ ही सम्भव होता है।

नागार्जुन की विचारधारा उनकी रचना-प्रक्रिया में सक्रिय है, पर वे अवधारणाओं के रूपान्तरण के कवि नहीं हैं। विचारधारात्मक सूत्रों अथवा सिद्धान्त-कथनों के भाष्य उनकी कविताओं में ऐसे चित्रित हैं कि उनके भीतर से अवधारणाएँ सहज ही निकलती देखी जा सकती हैं। वे अवधारणाओं से कविता नहीं रचते, कविता के अपने तर्क के भीतर से अवधारणाएँ निर्मित करनेवाले कवि हैं। साधारण-से, सपाट वर्णन-से दिखनेवाले काव्य-सन्दर्भ कैसे किसी निगूढ़ जीवन-मर्म का दार्शनिक साक्षात्कार करा जाते हैं, यह नागार्जुन की कविता से ही जाना जा सकता है।

नागार्जुन की प्रतिबद्धता उन्हें जन-जीवन के उन रूपों के साक्षात्कार की दिशा प्रदान करती है, जहाँ प्रायः कवि-दृष्टि नहीं पहुँच पाती। जीवन की करूण-दारूण स्थितियों का जैसा मार्मिक आख्यान नागार्जुन की कविताओं में उपस्थित है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। नागार्जुन की इस कविता में जीवन के भीषण त्रास का यह दृश्य अत्यन्त विकट और स्तब्धकारी है-

**कई दिनों तक चूल्हा रोया, चक्की रही उदास**
**कई दिनों तक कानी कुतिया, सोई उसके पास**

**कई दिनों तक लगी भीत पर छिपकलियों की गश्त**
**कई दिनों तक चूहों की भी हालत रही शिकस्त।**

**दाने आये घर के अन्दर कई दिनों के बाद**
**धुँआँ उठा आँगन से ऊपर कई दिनों के बाद**

**चमक उठी घर भर की आँखें कई दिनों के बाद**
**कौए ने खुजलाई पाँखें कई दिनों के बाद**

'अकाल और उसके बाद' शीर्षक यह नागार्जुन की अत्यन्त प्रसिद्ध कविता है। दुःख और सुख, विपत्ति और आनन्द, त्रासदी और उत्सव या यह कहें कि मृत्यु और जीवन के द्विध्रुवीय तनाव का ऐसा काव्यात्मक अन्वेषण विरल है। अकाल से प्रभावित जीवन का वर्गीय भौतिक स्वरूप यही हो सकता है। पर, भीषण दुःख का यह दृश्य-निरूपण नागार्जुन की जन-संवेदना का सीमान्त नहीं, जीवनोत्सव का रचना-विधान उसका साध्य है। यह साध्य नागार्जुन की प्रतिबद्धता का नाभिक है।

यह प्रतिबद्धता कागज की लेखी नहीं, आँखिन की देखी है- इसीलिए वह विश्वसनीय है। वस्तुगत सामाजिक-आर्थिक संरचनाओं के भीतर तक प्रवेश कर उसके अन्तर्वर्त्ती यथार्थ को आविष्कृत कर लेने की चेतना ओर संवेदना नागार्जुन की रचनात्मकता का प्राण-तत्त्व है। उनकी कविताओं में फैला हुआ जनता का जीवन-संसार उनका अपना, स्वयं का देखा-भोगा हुआ है। इसके लिए वे किसी मध्यस्थ के मुखापेक्षी नहीं हैं। वे साफ-साफ देख रहे हैं-

**कागज पर खेती होती, कलम हुई हरफार,**
**छोड़ रहे हैं गाँव खेत-मजदूरों के परिवार,**
**कृषि-विकास की खबरें प्रतिदिन छाप रहे अखबार**
**असेम्बली की छत पर फसलें उगा रही सरकार**

नागार्जुन की कविता का जन-पक्ष न अमूर्त है, न प्रच्छन्न। वह घोषित है। इसकी घोषणा वे स्वयं समय-समय पर करते रहे हैं। वे जीवन और साहित्य में आजीवन जनता के मोर्चे पर लड़ते रहे हैं। अपने दायित्व के गहरे बोध के कारण वे बराबर शासन-व्यवस्था के क्रूर आततायी चरित्र को प्रश्नाहत करते हुए उससे असुविधाजनक सवाल तो करते ही रहे हैं, वे जनता के सवालों का जवाब भी देते रहे हैं। यह जन-कवि के इस दायित्व-बोध की ही घोषणा है-

**जनता मुझसे पूछ रही है, क्या बतलाऊँ?**
**जन कवि हूँ मैं साफ कहूँगा, क्यों हकलाऊँ?**

नागार्जुन की रचना-दृष्टि का केन्द्रीय चरित्र गहरा राजनीतिक है। वे जानते हैं कि दुःखी-चिन्तित कर देनेवाली जीवन-दशाओं के परिवर्तन की शक्ति राजनीति में ही अन्तर्निहित है। समाजवाद का स्वप्न बिना स्पष्ट राजनीतिक परिप्रेक्ष्य के सम्भव नहीं है। यह स्वप्न नागार्जुन की जनता भी देखती है और नागार्जुन भी। पर, यह चरितार्थ होता हुआ नहीं दिखता। नागार्जुन की कविता राजनीतिक प्रश्न करती है-

**वे सोशलिज्म की बातें बोलो कहाँ गयीं?**
**सपनोंवाली रातें बोलो कहाँ गयीं?**
**वे वादे खुशहाली के बोलो कहाँ गये?**
**वे झाग अमृत प्याली के बोलो कहाँ गये?**

इन प्रश्नों का यहाँ कोई उत्तर नहीं है। पर यह बताना जरूरी नहीं कि ये प्रश्न भी हैं और उत्तर भी। कई बार प्रश्न खड़े करना उत्तर देने जैसा ही महत्त्वपूर्ण बन जाता है। इन प्रश्नों के बाद किसी उत्तर की आवश्यकता नहीं है। समकालीन व्यवस्था, उसकी नीतियाँ, उसके कार्यक्रम और उसकी विकास-घोषणाएँ ये सभी इन प्रश्नों के प्रहार से बेपर्द हैं।

नागार्जुन की रचना-संवेदना वैयक्तिक और सामाजिक, एकान्तिक और सार्वजनिक के ध्रुवान्तों में विभक्त नहीं है। आत्म-चेतना का ऐसा सार्वजनिकरण नागार्जुन जैसा कवि ही सम्भव कर सकता है। यहाँ व्यापक जन-जीवन उनके बोध और विचार के अछोर संसार में उपस्थित है। आत्मगत द्वारा व्यक्तिगत का ऐसा निषेध, ऐसा निर्मूलन जन-संवेदना के गहन अपरिमित विस्तार के बिना सम्भव नहीं-

**इस लिभृत-एकान्त में**
**क्यों स्वजन आते याद?**
**चाहता हूँ-बस, उन्हीं से**
**हो अभी संवाद**
**किन्तु**
**सोचना है मुझको**
**होगा कौन**
**मेरा स्वजन आज!**
**नहीं आये काम**
**शायद पुराने अंदाज**
**क्योंकि मेरे स्वजन हैं**
**फैले हुए सर्वत्र।**

नागार्जुन के लिए अपने और पराये का पूरा अर्थ-सन्दर्भ ही बदल गया है। इन सम्बन्धों की पुरानी अवधारणाएँ अब नहीं चल सकतीं। यह कविता पुराने सामाजिक-सांस्कृतिक मानदण्डों पर प्रहार है और जीवन में ज्यादा उदात्त, ज्यादा मानवीय सम्बन्ध-प्रणाली की प्रस्तावना है। कवि बराबर स्पष्ट करता चल रहा है कि उसके रंग-ढंग अब पहले वाले नहीं रह गये हैं। कवि से जनकवि तक का यह व्यक्तित्वान्तरण बहुजन समाज के कर्मशील-संघर्षशील जीवन से प्रतिबद्धता का अनूठा साक्ष्य है-

**मैं भी तो पहले देखा करता था सपने**
**साथी अब तो रंग-ढंग ही बदल गये हैं**
**समझ गया हूँ**
**जीवन में इस धरा-धाम का क्या महत्त्व है।**
**कैसे कहलाता कोई धरती का बेटा**
**आसमान में सतरंगी बादल पर चढ़कर**
**कैसे जनकवि धान रोपता**
**समझ गया हूँ**
**कैसे जनकवि जमींदार के उन अमलों को मार भगाता**
**हरे बाँस की हरी-हरी वह लाठी लेकर!**

पर, सभी कविजन जनकवि नहीं हैं। यह व्यक्तित्वान्तरण हर कवि में घटित नहीं

होता। नागार्जुन कवियों-साहित्यकारों के द्वैत के यथार्थ से परिचित हैं। उन्हें पता है कि अनेक कवि आत्मकेन्द्रित, व्यक्तिवादी महत्त्वाकांक्षाओं का अतिक्रमण नहीं कर पा रहे हैं। शब्द-कर्म जिनके लिए कल्पना, वाग्विलास और व्यक्तित्व-प्रतिष्ठा का साधन है, नागार्जुन उनसे बहुत अच्छी तरह परिचित है-

वे लोहा पीट रहे हैं

**तुम मन को पीट रहे हो**
**वे पत्तर जोड़ रहे हैं**
**तुम सपने जोड़ रहे हो**
**उनकी घुटन ठहाकों में घुलती है**
**और तुम्हारी घुटन?**
**उनींदी घड़ियों में चुरती है।**

**वे हुलसित हैं**
**अपनी ही फसलों में डूब गये हैं**
**तुम हुलसित हो**
**चितकबरी चाँदनियों में खोए हो**
**उनको दुःख है**
**नये आम की मंजरियों को पाला मार गया है**
**तुमको दुःख है**
**काव्य-संकलन दीमक चाट गये हैं।**

नागार्जुन की कविता की जन-दृष्टि अन्तर्विरोधों को अच्छी तरह पहचानती है। नागार्जुन केवल राजसत्ता और पूँजीतंत्र के जन-विरोधी यथार्थ को ही अपनी कविताओं में चित्रित नहीं करते, वे जनता के पक्ष में मुस्तैदी से खड़ा होकर पूँजीवादी-साम्राज्यवादी व्यवस्था से संघर्ष की कथित घोषणा करने वाले व्यक्तियों अथवा व्यक्ति-समूहों पर भी नजर रखने वाले कवि हैं। यह भी एक महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ है। जन-प्रतिबद्धता का दावा करने वाले बुद्धिजीवियों, संस्कृतिकर्मियों के छद्म और नाटकीय क्रान्तिकारी मुद्राओं का सच उनकी कविताओं में कुछ इस तरह व्यक्त होता है-

**ओफ्, इस कदर**
**मुतवातिर मुठ्ठियाँ उछालना!**
**पसीना-पसीना हो उठना इस कदर!**
**इस कदर फुफकारना!**
**सुराहीनुमा नफीस गर्दन!**
**पीछे की तरह इस कदर झटक लेना!**
**इस कदर लहरिया बालों के बेतरतीब गुच्छों को**
**नाटकीय शैली में लापरवाह-सा सहेज-सहेज लेना!**
**इस कदर होंठ फड़काना**
**नथुने फुलाना इस कदर**
**ओफ्फोऽऽह बहुत देखी है हमने ऐसी ऐक्टिंग**

प्रतिबद्धता और पक्षधरता के लिए आवश्यक वर्ग-चेतना के उपयोग के असंख्य प्रमाण नागार्जुन की कविताओं में मौजूद हैं। उनकी रचना-दृष्टि समाज-संरचना में वर्ग-विभाजन के यथार्थ को स्पष्ट देखती है और उसके कारकों को भी पहचानती है। किसान-मजदूर, वंचित-दलित समुदायों की व्यथा और उनके संघर्षों पर यह दृष्टि केन्द्रित है, तो सामन्ती-पूँजीवादी-साम्राज्यवादी शक्ति-केन्द्रों के वर्चस्व और षड्यंत्रों के यथार्थ को भी यह अनावश्त करती चलती है। दो समानान्तर और अन्तःसम्बद्ध वर्गीय अभिव्यक्तियों को एक साथ देखते-अनुभव करते हुए उसकी तनावपूर्ण विडम्बना का बोध तीक्ष्णतर होता जाता है। नागार्जुन का यही कौशल है। सन्दर्भ-निरूपण की प्रक्रिया में ही उनका वैचारिक अभिप्रेत निष्पन्न होता जाता है। उन्हें अलग से किसी निष्पत्तिमूलक वैचारिक वक्तव्य की आवश्यकता नहीं होती।

नागार्जुन निष्क्रिय-एकान्तिक भावानुभूतियों-संवेगों के कवि नहीं हैं। संवेदनशील कवि हैं, पर केवल भावबोध, केवल संवेदनाओं के कवि नहीं। वे यथार्थ के कथ्य और तथ्य की विचार-संवेदना के कवि हैं। उनके पास कहने कि लिए, व्यक्त करने के लिए जीवन-सत्य का देखा-सुना अनुभव किया हुआ एक विशाल संसार है। हर्ष-विषाद, सुख-दुःख वहाँ एक व्यापक सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक परिघटना का हिस्सा है। इसलिए एकान्त की वैयक्तिक स्मृतियों और उनकी भाव-अनुभूतियों की जगह प्रकट-प्रत्यक्ष जीवन्त परिदृश्य का भौतिक यथार्थ इनकी रचना की आधारभूत सामग्री है।

नागार्जुन की निर्भ्रान्त, मूर्त्त, पारदर्शी कविताओं के रूप-विन्यास का उनकी जन-प्रतिबद्धता से गहन तार्किक अन्तर्सबन्ध है। नागार्जुन के लिए सम्प्रेषण अथवा पाठक-श्रोता के साथ संवेदनात्मक अन्तःक्रिया एक बड़ा काव्यमूल्य है। नागार्जुन जन-साधारण के लिए लिख रहे हैं, इसलिए उनकी चिन्ता है कि अपने व्यापक जन-लक्ष्य तक कविता को पहुँचाना भी चाहिए। उनकी दृष्टि में इसके लिए केवल जन-जीवन की अन्तर्वस्तु पर्याप्त नहीं है, उसे जन-जीवन की भाषा भी दी जानी चाहिए। इसलिए वे भाषा-तंत्र को भी अपने मौलिक प्रयोगों से अपनी कविता के सम्बोध्य समूह के अनुकूल बनाने का यत्न करते है। अर्थात अन्तर्वस्तु के अनुरूप विन्यास। इन प्रयोगों से वे जन-पक्षधर कविता का नया काव्य-शास्त्र रचते दिखते हैं। एक ऐसा काव्य-शास्त्र, जिसकी कविता के पाठकों-श्रोताओं पर तो दृष्टि है ही, व्यक्तिवादी काव्य-प्रवृत्तियों के खतरे से भी जो सावधान है। कलात्मक उत्कर्ष और रचनात्मक प्रौढ़ता के नाम पर कविता में गम्भीर सामाजिक प्रश्नों और चिन्ताओं से कटी हुई व्यक्तिवादी और अमूर्त्त अभिव्यक्तियों के सापेक्ष नागार्जुन का यह काव्य-शास्त्र एक जन-पक्षधर विकल्प प्रस्तावित करता है।

पर नागार्जुन की कविताओं का एक और विन्यास भी है। अत्यन्त परिचित और सामान्य से दिखनेवाले जीवन-प्रसंगों को कविता का विषय बनाते हुए भी नागार्जुन की रूप-चेतना असावधान या स्थगित नहीं होती। नागार्जुन ऐसी कविताओं में सौन्दर्य की एक भिन्न संरचना उपलब्ध करते हैं, जो प्रच्छन्न होती है और जिसे पाठक थोड़े प्रयत्नों के पश्चात ही अनुभव कर पाता है। इसीलिए कविताओं के बाह्य भाषिक विन्यास में ही कविता का अर्थ खोज लेने वालों के लिए वे एक अतिशय मुखर और अकाव्यात्मक संरचनावाले कवि नजर आते है। पर ऐसा है नहीं। नागार्जुन साधारण में असाधारण की अदृश्य उपस्थिति सम्भव करने वाली सर्जनात्मकता के कवि हैं। सम्प्रेषण और सर्जनात्मकता के इस विलक्षण सन्तुलन की चेतना का स्रोत जनता है। बाह्य और मुखर भी जनता के लिए तथा थोड़ा प्रच्छन्न और आन्तरिक भी जनता के लिए।

मनुष्य के जीवन के भीषण सन्ताप और करुण व्यथा-कथा की अवसन्न कर देनेवाली असंख्य छवियों-ध्वनियों को देखने और सुन लेने की विलक्षण क्षमतावाला यह रचनाकार जीवन के उदात्त, प्रशान्त और मांगलिक को भी अपनी काव्य-संवेदना में समो लेने में उतना ही उदग्र और उत्सुक दिखता है। उसकी रचना-दृष्टि द्वन्द्वों, अन्तरालों और अन्तर्विरोधों पर टिकी हुई है, पर वह मनुष्य, समाज और संस्कृति की उज्जवल, अकलुष आकृतियों को भी निरन्तर रेखांकित करता चलता है। जहाँ-कहीं

भी प्रकृति में, जीवन में, संसार में जो कुछ-भी सुन्दर और प्रीतिकार है-- वह उसके काव्य-परिप्रेक्ष्य में उपस्थित है। नागार्जुन का साहित्य इस आरोप का रचनात्मक प्रत्याख्यान है कि यथार्थवाद की दिलचस्पी केवन जीवन के कुत्सित, कुरूप और विसंगतिपूर्ण प्रसंगों में है। कोमल और रागपूर्ण जीवन-प्रकृति के प्रति नागार्जुन का यह आकर्षण यथार्थवादी सौन्दयशास्त्र का एक विशिष्ट चरित्र है। नागार्जुन के काव्य-विधान में यह चरित्र सहज ही उपस्थित है।

नागार्जुन की जन-प्रतिबद्धता के पीछे मार्क्सवादी दर्शन में उनकी गहरी आस्था की भूमिका रही है। मार्क्सवाद सम्बन्धी नागार्जुन का अध्ययन उनके राजनीतिक अनुभवों में पुष्टतर होता गया। किसान संघर्षों में उनकी सक्रिय सहभागिता इन अनुभवों में से एक है। नागार्जुन की मार्क्सवादी-वामपंथी चेतना के विकास और संवर्द्धन में जन-संगठनों के नेतश्त्व में चलाये जाने वाले आन्दोलनों और संघर्षों का प्रभावी योगदान रहा है। यह प्रतिबद्धता इन्हीं व्यापक सन्दर्भों के भीतर से पैदा हुई है। जिसका जीवन जन-प्रतिबद्ध होगा, निश्चय ही उसका साहित्य भी जन-प्रतिबद्ध होगा। वही यह कहने का साहस कर पायेगा कि-

**प्रतिबद्ध हूँ, जी हाँ प्रतिबद्ध हूँ-**
**बहुजन समाज की अनुपल प्रगति के निमित्त।**

**मैंने शब्दाडंबरों से बचने का भरपूर प्रयास किया। अगर मुझे लगा कि मैंने अपना भाव अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया तो सीधे-सपाट ढंग से भी अपनी बात कह कर मुझे खुशी होती थी। पुराने चीनी रंगमंच पर कोई दृश्यावली नहीं होती थी और नये साल पर बच्चों को बेची जानेवाली तस्वीरों में चित्रकारी बहुत कम ही होती है। इन चीजों ने मुझे इस बात का कायल बनाया कि मेरे उद्देश्य के लिए ऐसे तरीके ही उचित हैं। मैं कभी गैरजरूरी बिस्तार में नहीं उलझा और संवाद का प्रयोग भी कम से कम किया।**

**--लू शुन**

# अंधभक्ति का 'नन्दित नरक'

**अंधभक्ति का यह** 'नन्दित नरक' या 'मूढ़ मतान्धों का स्वर्ग' हमारे ही देश में सम्भव है। 29 जनवरी 2014 को नूरमहल स्थित दिव्य ज्योति जागृति संस्थान के प्रमुख आशुतोष महाराज उर्फ महेश कुमार झा का देहान्त हो गया। उसी दिन जालन्धर संस्थान के डॉक्टरों ने जाँच करके बता दिया कि वे मर चुके हैं। उसी दिन से उस संस्था के प्रबन्धकों ने उनकी लाश को एक ऐसे कमरे में रख दिया जिसमें आधे दर्जन वातानुकूलक लगे हैं और कमरे में बर्फ भरी हुई है। उनका कहना था कि आध्यात्मिक गुरु समाधि में गये हैं और एक दिन बाहर आयेंगे। इस आस में नौ महीने से उनकी लाश फ्रीजर में रखी हुई है।

इसी दौरान अप्रैल में आशुतोष महाराज के बेटे दिलीप कुमार झा ने उच्च न्यायालय में आवेदन किया कि उन्हें उनके पिता की लाश दिलवायी जाय ताकि वे उनका अन्तिम संस्कार कर सकें। आशुतोष महाराज के ड्राइवर पूरण सिंह ने भी न्यायालय का दरवाजा खटखटाया और माँग की है कि उनकी 'रहस्यमय मौत' की जाँच सीबीआई से करवायी जाय।

1 दिसम्बर को पंजाब-हरियाणा उच्च न्यायालय ने घोषित किया कि आशुतोष महाराज 29 जनवरी को ही मर गये थे। न्यायालय ने पंजाब सरकार को निर्देश दिया कि एक अधिकार सम्पन्न कमेटी की देख-रेख में 15 दिन के अन्दर मृत शरीर की अन्त्येष्ठी धार्मिक विधि-विधान से सम्पन्न करे। न्यायालय का कहना था कि लाश को आदर-सम्मान के साथ रखा जाय और अन्तिम दर्शन के अलावा किसी अन्य उद्देश्य से इसका प्रदर्शन न किया जाय।

न्यायाधीश ने कहा कि उक्त संस्था के अनुयायियों का यह विश्वास कि महाराज जी समाधि में हैं और उन्हें उनकी लाश को अनिश्चितकाल तक रेफ्रिजरेटर में रखने का अधिकार है, इसका उनके धर्म के प्रचलित विधि-विधान से मेल नहीं। संविधान के मुताबिक उनका मौलिक कर्त्तव्य है कि वे वैज्ञानिक मनोवृत्ति और मानवता का विकास करें।

न्यायालय के इस आदेश के बाद उक्त संस्था के अनुयायी बड़ी संख्या में डेरे पर आने लगे। संस्था के लोगों ने सड़कों पर अवरोध खड़ा कर दिया और अपने समर्थकों के अलावा किसी का भी उधर जाना-आना रोक दिया। उन्होंने कुछ पत्रकारों के साथ हाथापाई की और उनके कैमरे तोड़ने की धमकी दी। लगभग वही माहौल बन गया जो कारागर की शोभा बढ़ा रहे संत रामपाल के भक्तों ने हिसार जिले में किया था। वहाँ भी भारी पुलिस बल तैनात किया गया है।

न्यायालय के फैसले पर रोक के लिए भक्तों ने फिर से आवेदन दिया है जिसकी सुनवाई अभी होनी है। उधर आशुतोष महाराज के पुत्र का कहना है कि वे अपने पिता की अन्त्येष्टि बिहार के मधुबनी जिले में स्थित अपने पुश्तैनी गाँव में करना अपना अधिकार समझते हैं। उनका कहना है कि निहित स्वार्थी तत्त्व उन्हें इससे वंचित कर रहे हैं।

1993 में पश्चिम बंगाल के बालक बह्मचारी का भी दावा था कि वे निर्विकल्प समाधि में हैं और मरने के बाद उनकी लाश को भी भक्तों ने 55 दिन तक फ्रीजर में रखा था। जिस पुलिस अधिकारी ने लाश की अन्त्येष्टि की कमान सम्भाली थी उसे भक्तों ने त्रिशूल से घायल कर दिया था। उस पुलिस अधिकारी का कहना था कि भक्त इस बात की तैयारी कर रहे थे कि बालक ब्रह्मचारी के भाई की दाढ़ी बढ़ाकर उसकी जगह लाकर बिठा देंगे और यह घोषित कर देंगे कि बाबा समाधि से बाहर आ गये।

इन बाबाओं के भक्तों की कतार में नेता, अफसर, थैलीशाहों के अलावा बड़ी संख्या में अभाव और कष्ट में जी रही जनता भी शामिल होती है जिसे बेहतर जिन्दगी का सपना बेचकर ये ढोंगी बाबा रातोंरात अरबपति बन जाते हैं। वैज्ञानिक चेतना और तर्कशीलता के अभाव में इस धंधे का फलना-फूलना जारी रहेगा।

# निठारी काण्ड : असली सवाल अभी जिन्दा है

**आठ साल पहले** जब निठारी काण्ड सामने आया था तो सचमुच यह दिल दहला देनेवाली घटना थी। यह जघन्य काण्ड देश की राजधानी से सटे नोएडा में घटित हुआ था जो हमारे देश में विकास के नये मॉडल के रूप में प्रतिष्ठित हो रहा था और निश्चय ही यह अमानुषिक कुकृत्य उसी विकास मॉडल का प्रतिफल और पराकाष्ठा थी। लगातार इलाके से मासूम बच्चों का गायब होना, गुमशुदगी की रिपोर्ट दर्ज न होना, फिर अचानक एक खुलासे में उनकी हत्या और अंग-भंग की खबर, डी-5 की भुतहा कोठी, उसका मालिक मोनिन्दर पंधेर और उसके नौकर सुरेन्दर कोली की गिरफ्तारी। सुननेवाले लोग सन्न रह गये, हतप्रभ, काटो तो खून नहीं। बच्चों के गायब होने और उनकी नृशंस हत्या से आगे, उस शिशु-वधशाला में क्या-क्या घटित हुआ, किस मकसद से हुआ, लोग यह जानने के लिए उत्सुक थे।

लेकिन आठ साल बाद इस केस का जो फैसला आया, वह भी कम चौंकानेवाला समाचार नहीं है। जिसे भी घटनाक्रम के बारे में, न्याय-प्रक्रिया के बारे में और कार्य-कारण सम्बन्ध के बारे में मोटामोटी जानकारी है, वह निश्चित ही इस फैसले को सुनकर हतप्रभ और क्षुब्ध होगा। कोली सिर्फ एक मामले में दोषी पाया गया और उसका आधार भी उसका इकबालिया बयान है। 15 मामले अभी निचली अदालत या उच्च न्यायालय में लम्बित हैं। ऐसे में कोली को फाँसी होने के साथ ही कई मामलों के कई पहलू सामने नहीं आयेंगे, जिनके लिए कोली का जिन्दा रहना जरूरी है।

कोली ने फाँसी की सजा सुनाये जाने के बाद मीडिया को बताया की वह गरीब-दलित परिवार से है, उसके पास मुकदमा लड़ने और महँगे वकील रखने के लिए पैसे नहीं थे, इसलिए एक तरह से उसकी हत्या की जा रही है।

सर्वोच्च न्यायालय में कोली की वकालत करनेवाले युग चौधरी ने मीडिया को बताया कि सीबीआई ने महिला और बाल विकास मंत्रालय की रिपोर्ट को संज्ञान में नहीं लिया, जिसके अनुसार बच्चों की हत्याएँ मानव अंगों की खरीद-फरोख्त के किसी बड़े षडयंत्र का हिस्सा हो सकती हैं। महिला और बाल विकास मंत्रालय की उस समिति में केन्द्र और राज्य सरकार के कई बड़े अधिकारी शामिल थे, जिन्होंने इस घटना के पीछे स्पष्ट रूप से मानव अंग के अवैध व्यापार की आशंका जतायी थी, लेकिन सीबीआई ने इस दिशा में कोई जाँच नहीं की। 2007 में गठित इस उच्च अधिकार सम्पन्न समिति ने माँग की थी कि पिछले कुछ वर्षों के दौरान आसपास के जिन अस्पतालों में अंग प्रत्यारोपण किये गये, उनके रिकॉर्ड की जाँच की जाय, उन ऑपरेशनों के स्वरूप और रुझान का पता चल सके।

इस घटना की जाँच करनेवाली कई समितियों ने लाशों का पोस्टमार्टम करनेवाले, नोएडा अस्पताल के चिकित्सा अधीक्षक डॉ. विनोद कुमार के बयान के आधार पर मानव अंग व्यापार की सम्भावना व्यक्त की थी। उनका कहना था कि सभी लाशों के मध्य भाग गायब थे, जो यह सन्देह पैदा करता है कि सम्भवतः उनका इस्तेमाल मानव अंगों की अवैध बिक्री के लिए किया गया हो। उनका मानना था कि बच्चों के अंग प्रत्यारोपण के लिए किसी बच्चे के अंग की काफी माँग है। उनका कहना था कि लाशों को शल्य क्रिया की जिस कुशलता से काटा गया था, वह कोली जैसे अनपढ़ के बस की बात ही नहीं थी। उन्होंने कोली के मानवभक्षी होने की बात को इस पूरे मामले की जाँच की दिशा भटकाने के लिए गढ़ी गयी कहानी बताते हुए उस पर सन्देह जताया था।

इतनी बड़ी संख्या में बच्चों की गुमशुदगी और हत्या के पीछे वास्तविक कारण क्या थे, यह अभी भी रहस्य है, इसकी जाँच ही नहीं हुई। निश्चय ही यह किसी एक दरिन्दे का कुकृत्य नहीं है और न ही उसके मर जाने से बच्चों की मौत का यह सिलसिला रुक जायेगा। नोएडा स्थित मोनिन्दर पंधेर की कोठी नम्बर डी- 5 में कोली के आने से पहले भी उस इलाके से बच्चे गायब हो रहे थे, उसकी गिरफ्तारी के बाद भी गायब होते रहे, उसे फाँसी की सजा सुनाये जाने के बाद आज भी गायब हो रहे हैं और तय है कि उसे फाँसी दिये जाने के बाद भी यह सिलसिला चलता रहेगा।

जब 2003 में नोएडा सेक्टर 31 के निकट निठारी गाँव से अचानक बड़ी संख्या में बच्चों के गायब होने की पहली बार खबर आयी। तब सुरेन्दर कोली नोएडा नहीं आया था। कई अभिभावकों ने पुलिस को सूचना दी थी, लेकिन पुलिस ने कोई कार्रवाई नहीं की थी। 8 फरवरी 2005 को रिम्पा हालदार गायब हुई। उसके माता-पिता ने काफी प्रयास किये, लेकिन पुलिस ने फिर मामला दर्ज नहीं किया। 2005 में फुटबॉल मैच खेल रहे बच्चों को एक प्लास्टिक के थैले में कटा हुआ हाथ मिला। पुलिस को सूचना दी गयी, लेकिन उस पर कोई कार्रवाई नहीं हुई। आखिरकार 2006 में बच्चों के गायब होने की रिपोर्ट जब इलाहाबाद उच्च न्यायालय में की गयी, तब पुलिस को जाँच का आदेश दिया गया।

दिसम्बर 2006 में कोली की गिरफ्तारी हुई। उसकी निशानदेही पर कोठी नम्बर डी- 5 के आसपास खाली प्लॉट और नाले से हाथ-पाँव की हड्डी और खोपड़ी बरामद हुई। जनवरी 2000 में मामला सीबीआई को सौंपा गया। दो महीने की जाँच में कोली के खिलाफ कोई पर्याप्त सबूत नहीं मिला। 27 फरवरी 2007 को मजिस्ट्रेट के आगे कोली का इकबालिया बयान दर्ज हुआ, जिसमें उसने 9 लड़कियों, 2 लड़कों और 5 जवान औरतों के साथ किये गये आपराधिक कुकृत्यों का विस्तृत ब्योरा दिया। इसी के साथ कोली ने यह भी कहा कि पुलिस ने उसे सिखाया कि उसे न्यायालय में क्या कहना है और इसके लिए उसे बेरहमी से यातना दी।

भारतीय साक्ष्य अधिनियम की धारा 24 के अनुसार प्रलोभन, धमकी या किसी उम्मीद की वजह से किया गया कबूलनामा

स्वीकार्य नहीं होता। इकबालिया बयान पूरी तरह स्वैच्छिक होना चाहिए, जबकि कोली ने 60 दिनों तक पुलिस रिमाण्ड में रहने के बाद अपना जुर्म कबूल किया था और पुलिस द्वारा सिखाने-पढ़ाने और बेरहमी से यातना देने की बात भी कही थी। दूसरे, कानून के मुताबिक सिर्फ इकबालिया बयान के आधार पर बिना किसी साक्ष्य के किसी मुजरिम को सजा नहीं होनी चाहिए, जैसा कि कोली के मामले में हुआ। इतना ही नहीं, इस पूरे मामले में तफतीस की ढेरों खामियाँ रही हैं, जिनके बारे में मीडिया में काफी कुछ आ चुका है।

महिला और बाल विकास मंत्रालय द्वारा गठित जाँच समिति की रिपोर्ट को न तो अदालत के सामने लाया गया और न ही उसे कोली या उसके वकील को दिया गया। उस रिपोर्ट में मानव अंगों के अवैध व्यापार की जो आशंका व्यक्त की गयी थी, उसकी पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि पंधेर की जिस कोठी में इन नृशंसताओं को अंजाम दिया गया उसके बगल की कोठी में रहनेवाले एक डॉक्टर पर मानव अंग के व्यापार का आरोप लग चुका था।

दिल्ली बाल अधिकार सुरक्षा आयोग ने 2010 में अपनी रिपोर्ट में बताया था कि दिल्ली में एक साल में 2503 बच्चे गायब हुए थे, जिनमें से ज्यादातर बच्चे उन इलाकों से गायब हुए जहाँ गरीब लोग रहते हैं। 2012 में गृहमंत्री ने राज्यसभा को बताया था कि देश-भर में हर आठ मिनट में एक बच्चा गायब होता है।

सबसे महत्त्वपूर्ण सवाल यही है की क्या कोली को फाँसी दिये जाने से उन सवालों का जवाब मिल जायेगा, जो शायद इस पूरे मामले की जड़ में निहित हैं? क्या बच्चों का गायब होना और मानव अंगों की बिक्री का अमानवीय और क्रूर खेल बन्द हो जायेगा, जिसकी ओर महिला और बाल विकास मंत्रालय की जाँच समिति ने अपनी रिपोर्ट में ध्यान आकर्षित किया था?

# दिल्ली में पालतू कुत्तों का सम्मलेन

***"मनुष्य को शेर** से एक, बगुले से एक, मुर्गे से चार, कौऐ से पाँच, कुत्ते से छह और गधे से तीन गुण ग्रहण करना चाहिए।"*

*"बहुत खाने की शक्ति रखना, न मिलने पर भी सन्तुष्ट हो जाना, खूब सोना पर तनिक आहट होने पर भी जाग जाना, स्वामिभक्ति और शूरता, ये छह गुण कुत्ते से सीखना चाहिए।"*

*-- चाणक्य*

*'कुत्ते! मैं तेरा खून पी जाऊँगा।"*

*--धर्मेन्द्र, फिल्म शोले*

कुत्तों के बारे में ऊपर जिन दो मनीषियों के उद्धरण दिये गये हैं वे तो महज बात शुरू करने का एक बहाना है। भारतीय वांग्मय में कुत्तों की महिमा का बखान भरा पड़ा है। कुत्तों पर कहावतों, मुहावरों और नीतिकथाओं की तो भरमार है ही, गालियाँ और वक्रोक्तियाँ भी कम नहीं हैं। प्राचीन काल से आज तक, भारतीय साहित्य और समाज में, कुत्तों को दुत्कार और प्रतिष्ठा दोनों ही इतनी भरपूर मिली है कि कई बार आदमी नामक प्राणी उनसे ईर्ष्या करने लगता है।

हाल ही में कुत्तों और कुत्ता पालकों को प्रतिष्ठित करनेवाली एक घटना देश की राजधानी में हुई।

दिल्ली से प्रकाशित एक नामचीन अंग्रेजी अखबार के दूसरे पन्ने पर सबसे ऊपर सात कॉलम का एक समाचार था, जिसमें तीन रंगीन चित्र और बैनर हेडलाइन था। खबर में बताया गया था कि पिछले एक नवम्बर को दिल्ली हाट में कुत्तों का एक सम्मलेन आयोजित किया गया। इसमें 5000 इन्सान, 250 कुत्ते और कुछ बिल्लियाँ शामिल हुईं।

दिल्ली में आयेदिन दलितों-शोषितों के सम्मलेन होते रहते हैं, लेकिन अखबार के किसी कोने-अन्तरे में भी उनको जगह नहीं मिलती, जबकि कुत्तों, जोंकों, सियारों और ठगों-बटमारों की बैठकें भी खबरों की सुर्खियों में रहती हैं।

बहरहाल, सम्मलेन में कुत्तों के लिए डिजाइनर पोशाक, खिलौने और नाना प्रकार के व्यंजनों की नुमाइश हुई। कुत्तों के लिए खास तौर से बेकरी चलानेवाले भी उस सम्मलेन में शामिल हुए। उनका कहना था की अब कुत्तों के लिए ब्रेड-बिस्कुट ही नहीं, बल्कि जन्मदिन-स्पेशल केक की माँग भी बढ़ रही है।

विदेशी तकनीक और विदेशी पूँजी पूजन के इस दौर में इस कुत्ता सम्मलेन में कई विदेशी नस्लों के कुत्ते भी शामिल हुए जिनमें चिहुआहुआ और लेब्राडोर सबसे ज्यादा आकर्षण के केन्द्र में रहे। बेचारे देसी कुत्ते अनामन्त्रित दर्शक थे।

सच पूछें तो यह सम्मेलन कुत्ता मालिकों और कुत्ता प्रेमियों का था। कुत्ते तो हमारे घर में भी पलते थे, बची-खुची खाकर पहरेदारी करते थे। उनसे लगाव भी हो जाता था, खासकर बच्चों को। लेकिन नवउदारवादी दौर के प्रदर्शन-प्रेमी नवधनाढ्यों की तो बात ही कुछ और है। उनका क्या है, वे तो अपने तोता-मैना पाले हैं। वे ही खबर बनते-बनाते हैं।

**हिन्दुस्तानी अपने वतन की**
**सबसे छोटी अकलियत है।**
**उसका कोई संघ नहीं है**
**उसकी कोई लीग नहीं है**
**अपने वतन में**
**हिंदू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई**
**बहुतेरे हैं**
**लेकिन मैं ये सोच रहा हूँ**
**अपने मुल्क में हिन्दुस्तानी**
**कितने होंगे?**

**- राही मासूम राजा**

# भारतीय न्याय व्यवस्था की विफलता

**भारत के विधि** आयोग ने जुलाई 2014 में जारी अपनी 245वीं रिर्पोट में कहा है कि लम्बित मामलों की भारी संख्या के कारण भारतीय न्याय तंत्र समय पर न्याय देने में अक्षम है। केवल सर्वोच्च न्यायालय में ही 46,000 मामले साल-भर से भी ज्यादा समय से लम्बित हैं, जबकि न्यायशास्त्र कहता है कि 'देर से मिला न्याय न्याय नहीं है'।

नेशनल क्राइम रिकॉर्ड ब्यूरो की रिर्पोट-प्रीजन स्टेटिस्टिक्स इन इंडिया 2012 के अनुसार भारत की जेलों में 2,54,857 विचारधीन कैदी बन्द हैं। यह कुल कैदियों की संख्या का 66.2 प्रतिशत है। यानी दो तिहाई से ज्यादा को अभी तक अपराधी नहीं माना गया है। इसके बावजूद वे अपने परिवारों को बेसहारा छोड़कर जेल में जीवन बिताने को मजबूर हैं। इनमें 2028 ऐसे हैं जो 5 साल से ज्यादा समय से बन्द हैं। इनमें से लगभग सभी गरीब वर्गों से हैं।

विचारधीन कैदियों में 1226 महिलाएँ हैं, जिनके साथ उनके 1397 बच्चे भी बन्द हैं। इसके अलावा 344 सजायाफ्ता महिलाओं के 382 बच्चे भी अपनी माताओं के साथ कैद हैं। इन सब बच्चों का गुनाह केवल यह है कि ये ऐसी माताओं की कोख से पैदा हुए हैं जो गुनहगार हैं या उन पर गुनहगार होने का आरोप है।

दुनिया-भर के शिक्षाविदों और समाजशास्त्रियों का मानना है कि इंसान अपनी 1 साल से 5 साल तक की उम्र में जितनी चीजें सीखता है, उतनी वह अपनी पूरी उम्र में भी नहीं सीखता। जेल की सीखचों के भीतर इन मासूम बच्चों का क्या मानसिक विकास हो रहा होगा, इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है। सरकार बड़ी आसानी से इन नौनिहालों को बेहतर जिन्दगी मुहैया करा सकती है। लेकिन मुनाफे पर टिकी इस व्यवस्था के चालक भला ऐसा काम क्यों करेंगे जिससे कोई लाभ न हो।

सभी जानते हैं कि आतंकवादी बताकर गिरफ्तार किये गये सैकड़ों बेगुनाह मुस्लिम युवकों में से अधिकांश अपनी जवानी जेलों में सड़ाकर अन्त में बाइज्जत बरी हो जाते हैं। सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायधीश श्री आर.एम. लोढ़ा ने न्याय व्यवस्था के बारे में चिन्ता जताते हुए कहा है कि भारत में न्याय देने की प्रक्रिया खुद में एक सजा बन गयी है।

न्याय मिलने में होनेवाली देरी एक ओर जहाँ गरीबों के जीवन को तबाह कर देती है, वहीं दूसरी ओर इससे शासक वर्ग के रसूखदार लोगों को फायदा है। अपने पैसे और पहुँच के चलते वे संगीन अपराधों में नामजद होते हुए जमानत पर जाते हैं और भी लम्बे समय तक अपने सामान्य जीवन का मजा लेते हैं, यहाँ तक कि देश पर शासन भी करते हैं।

इस तस्वीर का एक दूसरा पहलू भी है। कौन नहीं जानता कि भोपाल गैस त्रासदी में हजारों लोगों को मौत के घाट उतार देनेवाली विदेशी कम्पनी यूनियन कार्बाइड के अध्यक्ष और मुख्य कार्यकारी अधिकारी वारेन एण्डरसन को भारत सरकार ने अपने विमान से सुरक्षित विदेश भगा दिया था। उस पर कोई कानूनी कार्रवाई नहीं की गयी। दिल्ली में लोधी रोड पर सात लोगों की जान ले लेनेवाले हथियार व्यवसायी के पुत्र को आज तक सजा नहीं हो पायी। निठारी काण्ड में नौकर को तो फाँसी की सजा दी गयी लेकिन मालिक अभी-भी महफूज है। मीडिया में उसके नाम तक का जिक्र नहीं होता। मुम्बई का एक फिल्म अभिनेता अपनी गाड़ी से कुचलकर कई लोगों की हत्या करने के बावजूद अधनंगा होकर नाच दिखाता घूम रहा है। सैकड़ों दलितों के हत्यारे रणवीर सेना के मुखिया को देश की अदालत कोई सजा नहीं दे पायी। देश के सबसे बड़े पूँजीपति के बेटे ने अपनी महँगी गाड़ी से कई लोगों के परखच्चे उड़ा दिये, फिर भी वह बिल्कुल बे-फिक्र है। यह सूची अन्तहीन है।

देश की संसद में - सांसदों के खिलाफ आपराधिक मुकदमें दर्ज हैं। इनमें से - संगीन अपराधों में नामजद हैं। सफाई पर ज्यादा ध्यान देनेवाले प्रधानमंत्री मंत्रीमण्डल के - मंत्री जमानतों पर छूटकर देश का शासन चला रहे हैं। स्वच्छ शासन का वादा करके सत्ता में आयी पार्टी का अध्यक्ष खुद फर्जी एनकाउन्टर जैसे संगीन अपराध में नामजद है।

आजादी के बाद से अब तक बड़े नेताओं, पूँजीपतियों या बड़े अधिकारियों को अपवादस्वरूप ही सजा हो पायी, अगर कभी मिली भी है तो भी जब सत्ता के साथ उसका कोई विरोध पैदा हो गया या सत्ता के लिए वह किसी काम का न रहा। सच तो यह है कि शासक वर्ग के लिए समय पर न्याय कोई समस्या नहीं हैं। वे जब चाहते हैं जल्दी न्याय हो जाता है, जब चाहते हैं देर से।

विधि आयोग के अध्यक्ष श्री ए.पी. शाह ने अपने एक साक्षात्कार में कहा है कि ''मुझे लगता है कि समूची न्याय व्यवस्था कुछ बहुत ही गम्भीर समस्याओं से ग्रस्त है, जैसे- न्याय में देरी, महँगी कीमत, अदालती प्रबन्धन की कमी, एक सक्षम विवाद-समाधान प्रक्रिया की कमी... आपराधिक न्याय व्यवस्था ढहने की कगार पर है।''

विचाराधीन कैदियों की बढ़ती संख्या के बारे में उनका कहना है कि ''यह विचाराधीन कैदियों की आजादी के अपहरण के प्रति संस्थागत जिम्मेदारी में की कमी को प्रदर्शित करता है... हर अपराध में, मुजरिम को लम्बे समय तक बन्धक बनाने की आवश्यकता नहीं होती है। शायद कुछ मामलों में उसे गिरफ्तार करने की भी जरूरत नहीं होती है... अदालतों की प्रक्रियाएँ बहुत पुरानी हैं और वादी के बहुत अनुकूल नहीं हैं।'' रसूखदार लोगों द्वारा समय से न्याय लेने की क्षमता के बारे में उनका कहना है कि- ''हाँ, यह सच्चाई है। हम मौत की सजा के मामले को ही लेते हैं। राष्ट्रीय विधि विश्वविद्यालय और दूसरी संस्थाओं द्वारा हाल ही में किये गये विभिन्न सर्वेक्षण, दिखाते हैं कि मृत्युदण्ड पाये अधिकांश अपराधी वे हैं जो अपनी पसन्द के वकील नहीं कर सकते और सरकारी कानूनी मदद के भरोसे होते हैं। मेरा अनुभव है कि गरीब के लिए अपराधी साबित होने की सम्भावना उस व्यक्ति से

ज्यादा है जो अदालत में समुचित कानूनी सहायता हासिल कर लेता है। यह एक सच्चाई है। बहुत से विचाराधीन कैदी जेल में इसलिए हैं क्योंकि वे जमानती पत्र प्रस्तुत करने में असमर्थ हैं।''

सच तो यह है कि पूरी न्याय व्यवस्था बुनियादी खामियों की शिकार है। इसका आधार समाज में गहराई तक जड़ जमाये लोकतांत्रिक मूल्य नहीं हैं, क्योंकि जनान्दोलनों के तूफान से यह पैदा नहीं हुई है। औपनिवेशिक अंग्रेज शासकों ने जिस छद्म न्याय व्यवस्था को देश पर थोपा था, आजादी के बाद भी मामूली सुधारों के साथ मूलतः वही प्रणाली कायम रही। अपनी जमीन पर खड़े और अपनी जनता द्वारा तैयार एक विराट छायादार वृक्ष बनने की बजाय यह गमले का पौधा साबित हुई। इसका झुकाव हमेशा सत्ता के केन्द्र की ओर ही रहा। पूरे देश की जनता को न्याय की निर्मल छाया देने के बजाय इसकी पहुँच समाज के मुट्ठी-भर ऊपरी लोगों तक ही सीमित रही। आजादी के बाद के दो-तीन दशकों में इसकी तमाम खामियों और सीमाओं के बावजूद इसमें जनता का विश्वास बढ़ा। लेकिन समय बीतते-बीतते यह बहुत कमजोर साबित हुई और इसके गिनती के पत्ते भी झड़ने लगे। आज जब उदारीकरण, निजीकरण और वैश्विकरण के नाम पर जनता पर नयी आर्थिक गुलामी थोप दी गयी है, देशी-विदेशी शासकों के गलबहियाँ डालने का दौर है तो इस गमले के पौधे का तना और जड़ें सड़कर समाज में फैली दुर्गन्ध को और बढ़ा रहे हैं। आज इसमें सुधार के रास्ते तलाशने के बजाय न्यायपसन्द लोगों को एक ऐसी न्याय व्यवस्था के बारे में सोचने की जरूरत है जो पूरे देश की जनता को न्याय और समता के अधिकार दिलाने में सक्षम हो।

# जनता की रोटी

इंसाफ जनता की रोटी है
वह कभी काफी है, कभी नाकाफी
कभी स्वादिष्ट है तो कभी बेस्वाद
जब रोटी दुर्लभ है तब चारों ओर भूख है
जब बेस्वाद है, तब असंतोष।

खराब इंसाफ को फेंक डालो
बगैर प्यार के जो भूना गया हो
और बिना ज्ञान के गूंदा गया हो!
भूरा, पपड़ाया, महकहीन इंसाफ
जो देर से मिले, बासी इंसाफ है!

यदि रोटी सुस्वादु और भरपेट है
तो बाकी भोजन के बारे में माफ किया जा सकता है
कोई आदमी एक साथ तमाम चीजें नहीं छक सकता।

इंसाफ की रोटी से पोषित
ऐसा काम हासिल किया जा सकता है
जिससे पर्याप्त मिलता है।

जिस तरह रोटी की जरूरत रोज है
इंसाफ की जरूरत भी रोज है
बल्कि दिन में कई-कई बार भी
उसकी जरूरत है।
सुबह से रात तक, काम पर, मौज लेते हुए
काम, जो कि एक तरह का उल्लास है
दुःख के दिन और सुख के दिनों में भी
लोगों को चाहिए
रोज-ब-रोज भरपूर, पौष्टिक, इंसाफ की रोटी।

इंसाफ की रोटी जब इतनी महत्त्वपूर्ण है
तब दोस्तों कौन उसे पकायेगा?
दूसरी रोटी कौन पकाता है?
दूसरी रोटी की तरह
इंसाफ की रोटी भी
जनता के हाथों ही पकनी चाहिए
भरपेट, पौष्टिक, रोज-ब-रोज।

**-बर्तोल्त ब्रेख्त**

# मनरेगा योजना में कटौती का प्रस्ताव

**मोदी सरकार के** अधिकतर मंत्रियों की राय है कि मनरेगा (महात्मा गाँधी राष्ट्रीय रोजगार गारंटी योजना) को समाप्त कर देना चाहिए अथवा इसमें कुछ बदलाव किया जाना चाहिए, क्योंकि इस योजना के कारण मजदूर अपना काम ठीक से नहीं कर रहे हैं। इससे वास्तविक निर्माण कार्य नहीं हो रहा, उलटा वास्तविक निर्माण क्षेत्र के लिए मजदूरों की कमी हो रही है। हाल ही में भाजपा की मंत्री मेनका गाँधी ने 'बनारस के रेशम और कालीन उद्योग'' के तबाह होने का कारण मनरेगा के चलते पैदा होनेवाली मजदूरों की कमी को बताया है। उनके अनुसार रोजगार गारंटी योजना में 100 दिनों के निश्चित रोजगार के लालच में मजदूर काम नहीं कर रहे हैं। दूसरा, इस योजना में लगनेवाली धनराशि का कोई वास्तविक परिणाम भी नहीं निकल रहा हैं। इसलिए मोदी सरकार इस कानून में कुछ बदलाव करने का प्रस्ताव ला रही है। सरकार ने इस योजना में दैनिक मजदूरी और निर्माण कार्यों के लिए आवंटित धनराशि के 60:40 के पुराने अनुपात को घटा कर 51:49 करने के साथ ही योजना को अति पिछड़े 250 जिलों तक ही सीमित करने तथा योजना के लिए राज्य सरकारों को निश्चित धनराशि देने का प्रस्ताव पेश किया है।

मोदी सरकार के इस बदलाव प्रस्ताव का विरोध भी शुरू हो गया है। इस योजना को जिस तरह प्रचारित किया गया था कि यह दुनिया में पहली ऐसी योजना है जो 100 दिन के निश्चित रोजगार की गारंटी करती हैं और इससे अकुशल मजदूरों की बेरोजगारी में बहुत बड़ा परिवर्तन हो गया है, वास्तव में सच नहीं हैं। इस कानून में इसे लागू किये जाने के दिन से ही खामियाँ रही हैं। इस योजना को पहले भी कुछ सीमित राज्यों तमिलनाडु, त्रिपुरा में ही पूर्ण रूप से लागू किया गया था। बाकि राज्यों में तो यह योजना बहुत ही कामचलाऊ रही। इस योजना में जहाँ गरीब ग्रामीण परिवार के हर सदस्य को 100 दिनों के निश्चित कार्य की गारंटी की बात कही गयी है उसमें केवल 15 प्रतिशत मजदूरों को ही 100 दिनों का रोजगार मिल पाया। मजदूरों को प्राप्त न्यूनतम मजदूरी कभी-कभी ही समय पर मिल पाती है, उलटा केन्द्र सरकार द्वारा योजना के लिए दी गयी धनराशि का बड़ा हिस्सा बड़े ठेकेदारों का मुनाफा को बढ़ाने का ही काम किया। लेकिन इन सब कमियों के बाद भी इस योजना ने कांग्रेस सरकार को दोबारा सत्ता दिलवा दी थी। कांग्रेस सरकार ने मजदूरों को जिस रोजगार गारंटी के नाम पर छला था अब मोदी सरकार उस नकाब को भी हटाकर मजदूरों को दी गयी नाममात्र की राहत भी छीनने जा रही है।

मोदी सरकार मनरेगा में व्याप्त भ्रष्टाचार को समाप्त करने के नाम पर इस कानून में जो बदलाव करने जा रही है उसके अनुसार अब योजना के लिए दी जानेवाली धनराशि में दैनिक मजदूरी और निर्माण सामग्री का अनुपात 60:40 से घटकर 51:49 हो जायेगा। इस बदलाव का सीधा असर दैनिक मजदूरी पर पड़ेगा, क्योंकि अब न्यूनतम मजदूरी को भी कम कर दिया जायेगा या कम मजदूरों को ही काम मिल पायेगा। वहीं निर्माण सामग्री के लिए मिलनेवाले पैसे में बढ़ोत्तरी होने से बड़े ठेकेदारों और सरकारी अफसरों का फायदा और ज्यादा बढ़ जायेगा, दूसरा सरकार इस योजना को सबसे पिछड़े 250 जिलों तक ही सीमित करना चाहती हैं। इन पिछड़े जिलों का निर्धारण सर्वोच्च न्यायालय के मानक, गरीबी रेखा के प्रतिशत, खेती पर निर्भरता का प्रतिशत, महिला साक्षरता, घर की आर्थिक स्थिति इत्यादि के आधार पर तय होगा और इन 250 सबसे पिछड़े जिलों में ही मनरेगा योजना द्वारा निर्माण कार्य करवाया जायेगा, इस तरह ग्रामीण रोजगार गारंटी योजना से अन्य राज्यों के मजदूर खुद ही बाहर हो जायेगें जिसका अर्थ है मनरेगा योजना अब पूरे देश के हर राज्य में लागू नहीं होगी। तीसरा, मनरेगा योजना के लिए केन्द्र सरकार राज्य सरकारों को एक निश्चित धनराशि देगी जिसको राज्य सरकार अपने विवेक के अनुसार उपयोग में ला सकती है। पहले निर्माण कार्य के हिसाब से खर्च का लेखा-जोखा किया जाता था, अब एक निश्चित धनराशि के आधार पर निर्माण कार्य होगा जिसमें मजदूरों की संख्या कम कर दी जायेगी, इसका सबसे जायदा नुकसान मजदूरों का ही होगा।

पहले जहाँ मनरेगा में व्याप्त भ्रष्टाचार के बाद भी ये योजना देश के पाँच करोड़ अकुशल ग्रामीण मजदूरों को कुछ रोजगार उपलब्ध करवा रही थी, वहीं अब इस योजना में बदलाव कर देने पर रोजगार की संख्या करोड़ों से घटकर लाखों तक ही सिमट जायेगी। रोजगार गारंटी योजना में जो बदलाव किये जाने का प्रस्ताव किया जा रहा है उसका सीधा अर्थ इस योजना को पीछे के दरवाजे से बाहर कर देना ही है।

यूँ तो पहले ही महात्मा गाँधी राष्ट्रीय रोजगार गारंटी योजना गरीब ग्रामीण मजदूरों को पर्याप्त सुरक्षित रोजगार उपलब्ध नहीं करवा रही थी, लेकिन इसने हाशिए पर पड़े लोगों को कुछ राहत जरूर दी थी। मोदी सरकार द्वारा की जा रही कटौती इस सीमित रोजगार को भी व्यर्थ करने जा रही है। ये इस सरकार के भारत निर्माण के वादे की असलियत बयान कर रहा है, जिसमें गरीब मजदूरों, बेरोजगारों के लिए कोई जगह नहीं है।

**जो थाली से रोटी छीन लेते हैं**
**वे सन्तोष का पाठ पढ़ाते हैं।**
**जिनके लिए चढ़ावा चढ़ता है**
**वे त्याग की माँग करते हैं।**
**भर पेट खाकर डकारते हुए**
**वे भूखे लोगों को बताते हैं**
**महान समय के बारे में**
**जो कभी न कभी आयेगा।**
**जो देश को धकेल रहे हैं**
**सर्वनाश की ओर**
**वे कहते हैं**
**शासन चलाना बेहद कठिन है**
**आम आदमी के लिए।**

**-बर्तोल्त ब्रेख्त**

# माननीय पर्यावरण मंत्री का सामान्य ज्ञान

**हाल ही में** मोदी सरकार ने 12 जीएम फसलों के प्रायोगिक परीक्षण को मंजूरी दे दी। अनुवांशिक रूप से संशोधित जीएम फसलों के प्रभाव से सम्बन्धित एक सवाल का लिखित जवाब देते हुए केन्द्रीय पर्यावरण मंत्री प्रकाश जावड़ेकर ने 4 दिसम्बर को राज्यसभा में कहा कि इस बात का कोई वैज्ञानिक साक्ष्य नहीं है कि अनुवांशिक रूप से संशोधित (जीएम) फसलें भूमि, मानव स्वास्थ्य और पर्यावरण को नुकसान पहुँचायेंगी। उनका कहना था कि जीएम फसलों में कीटरोधक सहित कई लाभकारी विशेषताएँ हैं जो खाद्य सुरक्षा में सहायक हो सकती हैं।

बीटी बीज एक जीवाणु-- वैसिलस थ्यूरिंजिनेसिस से तैयार किया जाता है जो कि बहुत ही जहरीला है। इससे इन बीजों में भी जहरीलापन आ जाता है। अमरीका में जीएम टमाटर लगाये जाने के बाद वहाँ बीमारियों में बहुत ज्यादा बढ़ोत्तरी हुई। एलर्जी के मामलों में 400 फीसदी, अस्थमा में 300 फीसदी तथा आटिज्म में 1500 फीसदी का इजाफा पाया गया। कनाडा के एक अध्ययन में पता चला है कि 93 फीसदी गर्भवती महिलाओं के रक्त और 80 फीसदी भ्रुण में बीटी से सम्बन्धित कीटनाशक पाये गये।

महाराष्ट्र के विदर्भ में बीटी कपास के पौधों को खाने से कई पशुओं की मौत हो गयी। जिन मिलों में कपास के शोधन का कार्य हुआ, वहाँ मजदूरों को साँस सम्बन्धी बीमारियाँ और त्वचा की एलर्जी हो गयी।

जहाँ तक उपज में बढ़ोत्तरी की बात है तो अमरीकी संस्था आईएएसटीडी, जिसमें भारत सहित अन्य देशों के 400 वैज्ञानिक शामिल हैं। इसने चार वर्षों के शोध के बाद अपनी रिपोर्ट में कहा कि बीटी बीजों का उपज बढ़ाने से कोई लेना-देना नहीं है। इससे केवल कीड़ों से फसल का बचाव हो सकता है। इससे नुकसान थोड़ा कम हो सकता है, लेकिन पक्के तौर पर यह कहना भी मुश्किल है कि कीड़ों से फसल का बचाव होगा भी या नहीं।

अमरीका में सबसे पहले 1994 में जीएम टमाटर लगाया गया था। इसके बीस साल बाद भी वहाँ ऐसी कोई जीएम फसल नहीं है जिसमें पैदावार बढ़ी हो। अमरीकी कृषि विभाग का एक अध्ययन खुद मानता है कि जीएम मक्का और सोयाबीन की पैदावार पारम्परिक किस्मों की तुलना में कम हुई है।

भारत में कपास पर शोध करनेवाले संस्थान द सेन्ट्रल इंस्टीट्यूट ऑफ कॉटन रिसर्च, नागपुर के अनुसार वर्ष 2004 से 2011 के बीच देश में कुल कपास उत्पादन में बीटी कॉटन का क्षेत्र 5.4 फीसदी से बढ़कर 96 फीसद हो गया, लेकिन पैदावार में कोई खास वृद्धि के संकेत नहीं मिले।

एक शोध के मुताबिक 1996 से 2011 के बीच अमरीका के खेतों में 1890 लाख लीटर कीटनाशकों का प्रयोग किया गया। वर्ष 2012 में ही जीएम खेती करनेवाले किसानों ने औसतन 20 फीसदी अधिक कीटनाशकों का प्रयोग किया। दो दशक पहले अर्जेण्टीना में 340 लाख लीटर रासायनिक कीटनाशकों का प्रयोग होता था जो जीएम सोयाबीन के कारण बढ़कर 3170 लाख लीटर हो गया है। भारत में 2010 तक 90 फीसदी बीटी कॉटन की खेती होने लगी थी जिसमें 880.4 करोड़ रुपये के कीटनाशकों का इस्तेमाल किया गया।

जीएम फसलों और उसके लिए कीटनाशकों का इतनी भारी मात्रा में बढ़ते प्रयोग ने पर्यावरण को तहस-नहस कर दिया है। दुनिया-भर के अनेक कृषि वैज्ञानिक और पर्यावरणविद इन बीजों के खिलाफ हैं। इन बीजों के चलते खेतों को बंजर बना देनेवाले खरपतवार तेजी से फैल सकते हैं। जिनको तमाम रसायनों से भी नष्ट नहीं किया जा सकता। जीएम बीजों का इस्तेमाल करनेवाले देशों में से 28 देश इस संकट से घिर गये हैं। मोन्सेन्टो के जीएम सोयाबीन और कपास की फसल जार्जिया की जमीन को बंजर बना चुकी है।

एक अध्ययन के अनुसार ऐसे खरपतवार तेजी से बढ़ रहे हैं जिन्हें खत्म करना बहुत मुश्किल है। इन्हें सुपर वीड्स कहा जाता है। अमरीका में लगभग 10 करोड़ एकड़ भूमि इनसे संक्रमित हो चुकी है। कनाडा में 10 लाख एकड़ भूमि में सुपर वीड्स फैल चुकी है। जीएम फसल के चलन के बाद से 21 वीड्स ने प्रतिरोधक क्षमता विकसित कर ली है। कीटों के मामले में भी यही हो रहा है। भारत में बोलवॉर्म नामक कीड़ा प्रतिरोधी बन रहा है। इन वीड्स और कीटों पर घातक दवाओं का छिड़काव किया जा रहा है, जिसके चलते कई पक्षियों और कीट-पतंगों की प्रजातियाँ नष्ट हो रही हैं। मानव शरीर के लिए भी इसका असर जानलेवा है।

जैव तकनीक से तैयार ये जीएम बीज परम्परागत देसी बीजों को हमेशा-हमेशा के लिए गायब कर देंगी। एक अनुमान के मुताबिक भारत में ही इन बीजों के चलन से देसी बीजों की 2500 किस्में नष्ट हो जायेंगी।

भारत में जब बीटी कॉटन के बुरे नतीजे सामने आ चुके थे और बीटी बैंगन पर विवाद चल रहा था तो दुनिया के 17 प्रसिद्ध वैज्ञानिकों ने पूर्व प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह को इन बीजों के खतरे की जानकारी दी थी। उसमें पर्यावरण के विनाश की ओर भी ध्यान दिलाया गया था। इन बीजों के लिए भारी मात्रा में पानी की जरूरत होती है। हमारे देश में भू-जल स्तर का नीचे जाना पहले से ही विकराल संकट बना हुआ है, जीएम फसलें इस संकट को और बढ़ायेंगी।

बीटी बीजों की सच्चाई को पंजाब और विदर्भ में होनेवाली किसानों की तबाही ने सामने लाकर रख दिया है। यहाँ किसानों ने अच्छी आमदनी की आस में बीटी कपास के बीज बोये। ये साधारण कपास के बीजों से कई गुणा महँगे हैं। जीएम फसलों को ज्यादा खाद और पानी की जरूरत होती है। जिससे लागत बढ़ जाती है। किसानों ने अपनी जमीनों तक को गिरवी रखकर ऊँची ब्याज दर पर कर्ज लिया और फिर उसे खेती में लगाया। लेकिन किसानों के अरमानों पर उस वक्त पानी फिर गया, जब आधे से ज्यादा बीज उगे ही नहीं और जो उगे भी वे कपास पर लगनेवाले ''गुलाबी कीड़ों'' को रोक नहीं पाये। इसके कारण इसने फसल को बहुत नुकसान पहुँचाया। ऐसे में फसल को बचाने के लिए किसानों को

बहुत अधिक कीटनाशक का छिड़काव करना पड़ा। इससे फसल की लागत बढ़ गयी, लेकिन फिर भी कपास की फसल कम हुई। इस तरह किसानों को लागत भी वापस नहीं मिल पायी और कर्ज में फँसे किसान बर्बाद हो गये। फसल की बर्बादी तथा सूदखोरों और बैंकों की बदनामी से बचने के लिए कई किसान आत्महत्या करने को विवश हो गये। माननीय मंत्री महोदय को क्या सचमुच इन बातों की जानकारी नहीं है?

# दवा कम्पनियों को मनमानी कीमत वसूलने की छूट

**नवम्बर महीने में** हरिद्वार के पाँच सितारा होटल में 'पेशेन्ट सेफ्टी एण्ड एक्सेस टू क्वालिटी हेल्थकेयर' के अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलन में रसायन एवं खाद्य मंत्रालय के सचिव वी.के. सुब्बूराज ने कहा कि गरीबी के कारण लोग अपना इलाज नहीं करा पा रहे हैं। दवा के अभाव में उनकी जान जा रही है। उन्होंने कहा कि विश्व में 60 प्रतिशत और भारत में 50 प्रतिशत बीमार लोग दवा के अभाव में दम तोड़ रहे हैं। उन्होंने यह भी बताया कि दुनिया में हर साल 10 लाख लोगों की मौत कैंसर से हो रही है, जिनमें से 7.5 लाख लोग दवा के अभाव में मर रहे हैं।

आम जनता के स्वास्थ्य पर चिंता जताते हुए जिस समय ये भावुक शब्द कहे जा रहे थे, उसके एक महीने पहले ही 108 जरूरी जीवन रक्षक दवाओं के मूल्य निर्धारण सम्बन्धी अधिनियम वापस लिया रहा है। इस बारे में आम जनता को सरकार द्वारा कोई जरूरी जानकारी मुहैया नहीं करायी गयी थी।

सरकारी अस्पतालों और दवा की दुकानों में सस्ती जेनरिक दवाओं की उपलब्धता कम कर जनता को महँगी ब्राण्डेड दवा लेने पर मजबूर करनेवाले उच्च सरकारी अधिकारी पाँच सितारा होटल में बैठकर जनता के लिए घड़ियाली आँसू बहा रहे थे, जबकि उनकी जानकारी में लिये गये फैसले के चलते से दवा के बिना मरनेवालों के आँकड़े ऊपर चढ़ रहे थे।

जेनरिक दवाएँ ऐसी दवाएँ होती हैं, जो बिना ब्राण्ड नेम के बनायी और बेची जाती हैं। जेनरिक दवा उत्पाद के बाद सीधे खुदरा दुकानदार तक पहुँचती हैं। इस पर सिर्फ उस सॉल्ट का नाम लिखा होता है जो उस दवा में होता है। इनके प्रचार-प्रसार पर खर्च नहीं करना पड़ता। जेनरिक दवाओं की कीमत पर सरकारी नियंत्रण होता है। पैरासिटामोल, इबूप्रोफेन और सेट्राजीन प्रमुख जेनरिक दवाओं में से हैं। जीवन रक्षक जेनरिक दवाओं की कीमत और ब्राण्डेड दवाओं की कीमत को नियंत्रित करने तथा दवा बनाने वाले उपकरण और उपयोग में लाये जानेवाले सॉल्ट की निगरानी के लिए 1997 में 'नेशनल फॉर्मा प्राइसिंग अथॉरिटी' का गठन किया गया था, जिसका कार्य एक जैसी दवा बनानेवाली विभिन्न कम्पनियों की कीमत निर्धारित करना भी था, ताकि उन दवाओं में मूल्य और जेनिरिक दवाओं के मूल्य में ज्यादा अन्तर न हो। लेकिन गरीब जनता को अच्छे दिनों के सपने दिखानेवाली भाजपा सरकार ने सत्ता में आते ही, 108 जरूरी जीवन रक्षक दवाओं के मूल्य निर्धारण से सम्बन्धित अधिनियम को दवा बनानेवाली कम्पनियों के दबाव में आकर वापस ले लिया। परिणामस्वरूप विभिन्न दवा कम्पनियों ने बिना पेटेन्टवाली दवाओं के दाम ऊँचे कर दिये। भारत में दवाओं की अत्यधिक माँग होने और ब्राण्डेड दवाओं के महँगे होने की स्थिति में अब जनता के पास सस्ती दवा खरीदने का कोई विकल्प नहीं बचा।

जरूरी दवाओं का मूल्य अनियन्त्रित होने से डायबिटीज के 6 करोड़ मरीज सीधे प्रभावित हुए हैं। इण्टरनेशनल डॉयबिटीज फॉउन्डेशन के अनुसार भारत में 2030 तक शुगर के 10 करोड़ मरीज होने की सम्भावना है। सस्ती दवाओं की उपलब्धता न होने के कारण ही साल 2013 में निमोनिया और डायरिया से 3 लाख बच्चों की मौत हो गयी थी, जिसका खुलासा इण्टरनेशनल वैक्सीन ऐक्सेस सेंटर द्वारा किया गया। पाँच साल से कम उम्र के 1.7 लाख बच्चे निमोनिया के शिकार थे, बाकी डायरिया के।

108 जीवन रक्षक दवाओं के मूल्य निर्धारण और उनकी निगरानी के लिए 2012 में सर्वोच्च न्यायालय में एक जनहित याचिका दायर की गयी थी। तब सर्वोच्च न्यायालय ने कहा था कि जीवन-रक्षक दवाओं का मूल्य निर्धारण जरूरी है। जिसके निर्देश पर रसायन एवं खाद्य मंत्रालय ने 'नेशनल फॉर्मा प्राइसिंग अथॉरिटी' को मूल्य घटाने का अधिकार दिया था।

चूँकि यह फैसला दवा बनानेवाली कम्पनियों के मुनाफे में आड़े आ रहा था, इसलिए दवा कम्पनियों के संगठन ऑल इण्डिया ड्रग नेट ने इस अधिनियम के खिलाफ, दिल्ली उच्च न्यायालय में अपील दायर की। उनका पक्ष था कि 'नेशनल फॉर्मा प्राइसिंग अथॉरिटी' मनमाने तरीके से दवाओं का मूल्य निर्धारित करती है, जो असंवैधानिक है और समाज के हित में नहीं है।

कोई भी समझ सकता है कि दवाओं का मूल्य निर्धारण से जनता को नुकसान है या दवा बनानेवाली कम्पनियों को।

दवा बनानेवाली कम्पनियाँ दवाओं को मनमानी कीमत पर बेचना चाहती हैं, ताकि वे अकूत मुनाफा कमा सकें, भले ही लाखों-करोड़ों लोग बिना दवा-इलाज के मर जायें। सरकार की जनविरोधी नीतियों के कारण बाजार में सस्ती जेनरिक दवाओं की उपलब्धता बहुत कम है। ऐसी स्थिति में दवा बनानेवाली कम्पनियाँ डॉक्टरों को महँगी दवा लिखने के एवज भरपूर कमीशन का लालच देती हैं। डॉक्टर भी मरीजों को ब्राण्डेड कम्पनियों की महँगी दवा लिखते हैं, जिसे मजबूरीवश उन्हें खरीदना पड़ता है। एक ही दवा की कीमत में पचास-सौ गुने का अन्तर इसी कमीशनखोरी और बाजार हथियाने की होड़ के कारण है। अच्छे दिन का सपना दिखाकर सत्ता हासिल करनेवाली सरकार का सिर्फ यही एक फैसला करोड़ों लोगों को असमय मौत के मुँह में धकेलनेवाला है।

# राष्ट्रीय राजाधनी क्षेत्र में गायब होता भूजल

**पानी का महत्त्व** बताते हुए रहीम ने लिखा था-

*रहिमन पानी राखिये बिन पानी सब सून,*
*पानी गये न ऊबरै, मोती, मानुष, चून।*

भूजल के बेतहाशा दोहन ने आज हमें वहाँ पहुँचा दिया है कि जिन्दगी के लिए जरूरी न्यूनतम पानी भी अब धरती के गर्भ में नहीं बचा है। राष्ट्रीय राजाधानी क्षेत्र के भूजल में भारी गिरावट पर हाल ही में प्रकाशित एक रिपोर्ट में जो सच्चाई सामने आयी है वह काफी बेचैन करनेवाली है। राजधानी और उसके आसपास के क्षेत्र-- गुड़गाँव, फरीदाबाद और गाजियाबाद में बिल्डिंग और उद्योगों में अत्यधिक भूजल के दोहन से स्थिति बेकाबू हो गयी है। गुडगाँव सहित हरियाणा के लगभग सभी जिलों में भविष्य के लिए उपलब्ध भूजल की मात्रा नकारात्मक है। दिल्ली में जलबोर्ड द्वारा पानी की आपूर्ति और नये बोरवेल पर रोक लगाये जाने के चलते भूजल पर निर्भरता में थोड़ी कमी आयी है, हालाँकि अवैध रूप से भूजल का दोहन आज भी जारी है।

'भारत के परिवर्तनीय भूजल संसाधन' शीर्षक एक अध्ययन में बताया गया है कि दिल्ली के 27 जिलों में हर साल 31 करोड़ घन मीटर भूजल वरसात से आपूरित हो जाता है जबकि वहाँ पानी की अनुमानित सालाना खपत सिंचाई के लिए 14 करोड़ घनमीटर, उद्योग और घरेलू खर्चो के लिए 25 करोड़ घनमीटर है। यहाँ प्राकृतिक रूप से पूर्ति और खपत का अनुपात 137 प्रतिशत है। यह तथ्य पानी के अन्धाधुन्ध दोहन की भयावह तस्वीर पेश करता है। गुड़गाँव में सालाना भूजल का दोहन 54,418 हेक्टेयर मीटर है जबकि बरसात से मात्र 26,720 हेक्टेयर मीटर जल की पुनःपूर्ति हो पाती है। इस तरह यहाँ भविष्य के लिए उपलब्ध जल की मात्रा नकारात्मक है। यहाँ भूजल की पूर्ति और खपत का अनुपात 226 प्रतिशत है जो दोहन की चरम स्थिति को दर्शाता है।

फरीदाबाद इस मामले में थोड़ा ठीक है जबकि पूरे हरियाणा राज्य की स्थिति नकारात्मक है। उत्तर प्रदेश में गाजियाबाद और गौतमबुद्ध नगर भी अत्यधिक दोहन क्षेत्र में शामिल हैं।

दिल्ली के आसपास के बहुत सारे क्षेत्रों में ग्रीन ट्रिब्यूनल की मनाही के बावजूद भवन निर्माण कम्पनियाँ भूजल का अत्यधिक दोहन कर रही हैं। उनको इस बात की कोई परवाह नहीं है कि जल संरक्षण करके भूजल की क्षतिपूर्ति कैसे की जाय। ये इस बात से भी बेफिक्र हैं कि धरती के गर्भ में उपलब्ध भूजल सीमित है। यह बैंक में जमा धन की तरह है। यदि इसका खर्च और आमदनी का अनुपात बिगड़ जाय तो आर्थिक संकट खड़ा हो जाता है। वैसा ही संकट आज भूजल को लेकर है।

नोएडा और ग्रेटर नोएडा प्राधिकरण ने ग्रीन ट्रिब्यूनल के सामने एक शपथ पत्र पेश किया था जिसके मुताबिक यहाँ भवन निर्माण करनेवाले बारिश से इकठ्ठे हुए जल का ही इस्तेमाल कर रहे हैं। सच्चाई यह है कि जितनी मात्रा में वहाँ जल का इस्तेमाल हुआ है, उतनी तो बारिश भी नहीं हुई है। इस सम्बन्ध में नेशनल ग्रीन ट्रिब्यूनल ने राज्य सरकार और बिल्डरों से जवाब माँगा है।

जाहिर है कि इस तरह के कागजी घोड़े दौड़ाकर इन क्षेत्रों में आनेवाली गम्भीर समस्या से नहीं बचा जा सकता। इस सवाल को हल करने के लिए एक जन आन्दोलन की जरूरत है जो सबको रोजमर्रा की जरूरत के लिए उचित मात्रा में पानी मुहैया कराना सुनिश्चित करे और जल संरक्षण के प्रति समग्र दृष्टिकोण और सही योजाना को कड़ाई से लागू करवाये।

# गर्भपात के लिए बनेगा नीमहकीमी कानून

**स्वास्थ्य मंत्रालय ने** गर्भपात कानून का प्रारूप मंत्रिमंडल को भेजने का निर्णय दिया है। इस कानून में होम्योपैथी डॉक्टरों और दाइयों को गर्भपात करने की अनुमति का प्रस्ताव है। प्रस्तावित कानून में गर्भपात की अवधि बढ़ाकर गर्भ धारण करने के 24 सप्ताह तक किये जाने का सुझाव है।

स्त्री रोग विशेषज्ञों के संगठन एफओजीएसआई ने इस प्रस्तावित कानून का विरोध करते हुए कहा है कि दाइयों और होम्योपैथी डॉक्टरों द्वारा गर्भपात करवाना महिलाओं के स्वास्थ्य के लिए खतरनाक है और कानून में इस ढिलाई के चलते लिंग निर्धारण करके स्त्री भ्रुण हत्या की घटनाएँ भी बढ़ेंगी। स्वास्थ्य मंत्रालय के इस तर्क के जवाब में कि देश-भर में एमबीबीएस डॉक्टरों की कमी है, संगठन के प्रवक्ता ने कहा कि इसके लिए प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों में सुधार करने की जरूरत है, महिलाओं की जान जोखिम में डालना ठीक नहीं।

भारतीय चिकित्सा संघ (आईएमए) ने शुरू से ही इस प्रस्तावित कानून के प्रारूप का विरोध किया था और इस सम्बन्ध में प्रधानमंत्री को पत्र लिखकर इसे वापस लेने की अपील की थी। हैरानी की बात यह है कि महिला एवं शिशु कल्याण मंत्रालय, राष्ट्रीय महिला आयोग और कई महिला समूहों ने भी इस प्रस्तावित कानून का समर्थन किया है।

स्वास्थ्य मंत्रालय के एक वरिष्ठ अधिकारी ने कहा है कि जिस देश में एमबीबीएस डॉक्टरों की इतनी कमी है, वहाँ हम सुरक्षित गर्भपात कैसे सुनिश्चित कर सकते हैं। मंत्रिमंडल इस पर उचित फैसला लेगा। हम चिकित्सकों के संगठन की इच्छा के आगे नहीं झुकेंगे।

महिलाओं के स्वास्थ्य के प्रति सरकार के उपेक्षापूर्ण रवैये की यह ताजा मिसाल है। जिस देश में दुनिया-भर के पैसेवाले मेडिकल टूरिज्म के लिए आमंत्रित किये जा रहे हैं, वहीं हमारे देश की महिलाओं और बच्चों के साथ अमानुषिक व्यवहार किया जा रहा है। उनके लिए ओझा, सोखा, दरगाह, भभूत, अप्रशिक्षित नीमहकीम ही बचे हैं। यह प्रस्तावित कानून नीम हकीमी को मान्यता प्रदान करने की ओर बढ़ाया गया एक कदम है।

# फैक्ट्रियों के दूषित जल का आम जनता पर कहर

**'जल ही जीवन है'** और 'जीवन दायिनी नदियाँ' जैसी कहावतें बीते जमाने की बात हो गयी हैं। एक समय था, जब चरवाहे अपने पशु लेकर नदी किनारे चराने जाते थे। पशु नदी में पानी पीते थे। चरवाहे भी नदी किनारे रेत में चोवा खोदकर ताजा पानी पी लेते थे। नदियों का जल खेतों में खड़ी फसलों को अपने में समाहित खनिज तत्त्वों से भर देता था। आज यह सब सपना जैसा लगता है। पश्चिमी उत्तर प्रदेश के जिला बागपत, मेरठ, सहारनपुर, शामली, मुजफ्फरनगर और गाजियाबाद में कृष्णा (काली) और हिंडन नदी में प्रवाहित फैक्ट्रियों का प्रदूषित जल इस क्षेत्र की जनता के लिए अभिशाप बन गया है। इसके चलत भूजल इतना दूषित हो चुका है कि तालाबों और हैंडपम्प से निकलनेवाला पानी भी लोगों के लिए कैंसर, लकवा, हड्डियों का मुड़ जाना और मस्तिष्क रोग जैसी गम्भीर बीमारी का कारण बना हुआ है। इन भयानक बीमारियों से इस क्षेत्र के 154 गाँव प्रभावित हैं। दूषित जल के कारण इन गाँवों में अब तक 1000 लोगों की मौत हो चुकी है और 2500 से अधिक लोग गम्भीर बीमारियों से ग्रस्त हैं। जहरीले पानी से होनेवाली बीमारियाँ नवजात शिशु से लेकर बड़े बुजुर्ग तक, सभी को अपनी चपेट में लेती जा रही हैं।

बागपत जिले के गांगनोली गाँव में, पिछले दो सालों में 112 लोगों की कैंसर से मौत हो चुकी है और 47 लोग अभी भी इस बीमारी से जूझ रहे हैं। इसी गाँव की आठ साल की नेहा के पैरों की हड्डियाँ टेढ़ी और कमजोर हो गयी हैं, वह जैसे-तैसे खड़ी तो हो सकती है, लेकिन चल-फिर नहीं सकती। 48 साल के धर्मवीर पिछले तीन सालों से बिस्तर पर पड़े हुए हैं। पूरे गाँव में शायद ही कोई घर हो जहाँ कोई बीमार न हों। इस तरह फैक्ट्रियों से निकालनेवाला कचरा नदियों और भू-जल को जहरीला बना रहा है तथा हँसती-खेलती जिन्दगियों को अपाहिज कर रहा है। यही हालत दूसरे गाँवों की भी है। अभी हाल ही में उत्तर प्रदेश प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड ने नदियों के जल की जाँच करवायी तो चौंकानेवाले परिणाम सामने आये। जहाँ पानी में हानिकारक पदार्थों की अधिकतम सीमा 200 मिलीग्राम प्रति लीटर हो सकती है वहाँ पानी में यह मात्रा 7500 मिलीग्राम प्रति लीटर पायी गयी। सल्फाइड की मात्रा जो 2 मिलीग्राम प्रति लीटर होनी चाहिए वह 285 मिलीग्राम प्रति लीटर पायी गयी। आइरन की मात्रा 3 मिलीग्राम प्रति लीटर के बजाय 38 मिलीग्राम प्रति लीटर पायी गयी। पारा और शीशे जैसे बेहद जहरीले तत्वों की मात्रा भी अत्यधिक पायी गयी।

कुछ दिनों पहले लोक विज्ञान संस्थान देहरादून के वैज्ञानिक डॉ. अनिल गौतम ने हिंडन नदी पर शोध किया था, जिसमें उन्होंने पाया कि नदी के पानी में हार्ड मेटल, क्रोमियन, जिंक, साइनियम, सिपरोनिल, डीसीवीबी समेत बड़ी संख्या में घातक रसायन बेहद खतरनाक स्थिति तक मौजूद हैं। इस शोध के मुताबिक, इन रसायनों की वजह से कैंसर, खुजली, टीबी, खून की कमी, खसरा, वायरल, बुखार व अन्य दर्जनों बीमारियाँ तेजी से फैल रही हैं।

हिंडन और कृष्णा (काली) नदी में विभिन्न तरह के हानिकारक रसायन होने की बजह गन्ना मिल और पेपर मिल सहित अन्य 42 फैक्ट्रियाँ हैं जो अपने दूषित कचरे को नदियों में ही बहा देती हैं। कानूनन तो किसी भी फैक्ट्री को कहीं भी दूषित जल प्रवाहित करने का अधिकार नहीं हैं। लेकिन फैक्ट्रियों के मालिक और सरकारी नियंत्रकों की साँठ-गाँठ ने नदियों, तालाबों और इस पूरे क्षेत्र के भू-जल को जहरीला बना दिया है। ज्यादा से ज्यादा मुनाफे के लालच में मुट्ठी-भर फैक्ट्री मालिकों ने क्षेत्र की 50 लाख से भी अधिक आबादी के लिए मौत का बंदोबस्त कर दिया है। दूसरी तरफ शासन-प्रशाशन ने इसके खिलाफ कोई ठोस कदम उठाने के बजाय खुद को जाँच समितियों और लीपापोती तक सीमित कर लिया है। इस जन अपराध के असली दोषी फैक्ट्री मालिक धड़ल्ले से दूषित कचरे को नदियों में बहा रहे हैं। फैक्ट्री मालिकों के इस रवैये से लगता है कि उनको पूरा विश्वास है की धन्नासेठों की रखैल इस व्यवस्था के रहते कोई उनका बाल भी बाँका नहीं कर सकता।

इन नदियों के किनारे बसे ग्रामीणों को सरकार की तरफ से कोई उम्मीद की किरण नजर नहीं आ रही है। सरकारी कार्रवाइयों से निराश होकर उन्होंने गाँव से पलायन शुरू कर दिया है। नदी किनारे बसे 50 से भी अधिक परिवार पलायन कर चुके हैं और 100 से भी ज्यादा परिवार पलायन की तैयारी में हैं। लेकिन पलायन समस्या का न तो स्थायी समाधान है और न ही गरीब ग्रामवासियों के लिए यह सम्भव है। ऐसे में ज्यादातर ग्रामीण अपनी आनेवाली मौत का बेबसी से इंतजार कर रहे हैं।

यह दुर्भाग्य ही है कि निर्मल जल वाली नदियों के तट पर बसे इस पूरे क्षेत्र के लिए आज वैकल्पिक पेय जल व्यवस्था और बीमार लोगों के लिए समुचित इलाज कि माँग सर्वोपरि हो गयी है। नदियाँ दूषित होकर भू-जल और भूमि को जितना जहरीला बना चुकी हैं उसकी भरपाई तुरत-फुरत में किया जाना फिलहाल दूर कि कौड़ी है। फैक्ट्रियों से निकालनेवाला कचरा नदियों में और अधिक न बहे, सरकार अगर यही सुनिश्चित कर दे, तो भी इस पूरे क्षेत्र को विनाश से बचाने के लिए कुछ किया जा सकता है।

वैसे इस समस्या के प्रति सरकार की बेरुखी से स्पष्ट ही है कि वह अपने आप कोई कड़े कदम उठाने नहीं जा रही है। ऐसे में जनता को खुद ही एकजुट होकर इसके खिलाफ आवाज उठानी होगी और अगर आज हमने इसमें जरा भी देरी की तो यकीनन 'कल बहुत देर हो जाएगी'।

**-राजेश चौधरी**

# सोनभद्र औद्योगिक क्षेत्र : विकास का दंश

**सोनभ्रद जिले के** ईद-गिर्द 7000 वर्ग किलोमीटर में फैला औद्योगिक इलाका देश का सबसे बड़ा ऊर्जा उत्पादन केन्द्र माना जाता है। देश-भर में जितना तापविद्युत उत्पादन होता है उसका 10 प्रतिशत यानी 11,000 मेगाावाट बिजली इसी इलाके में पैदा होती है।

विकास योजनाओं ने इस इलाके के हवा-पानी में जहर घोल दिया है। अनुवांशिक बीमारियों, शिशुओं का मर जाना, पेट की बीमारी, सुनने-बोलने में बाधा, चर्म रोग, आँखों की बीमारी प्रजनन क्षमता का हास और न्यूरोलोजिकल बीमारियाँ इस इलाके में बुरी तरह पाँव पसार चुकी हैं। बच्चा, बूढ़ा, जवान, औरत, मर्द-- कोई भी इस जान लेवा हमले से नहीं बचा है। लोगों के खून में सीसा, पारा और आरसेनिक बह रहा है।

दिल्ली स्थित सेन्टर फॉर साइन्स एण्ड इनवायर्नमेन्ट ने 2011 में उस इलाके के अनाज, मछली, मिटटी और पानी का नमूना लेकर उनकी जाँच की। साथ ही वहाँ के निवासीयों के खून, नाखून और बाल का भी नमूना इकट्ठा किया। जाँच से पता चला कि उन नमूनों में भारी मात्रा में सीसा, पारा, फ्लोराइड, आरसेनिक और क्रोमियम मौजूद है। केन्द्रिय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड (लखनऊ) ने 2000-2001 में अपनी रिपोर्ट में बताया था कि इस इलाके में पारे के चलते घुलनेवाला जहर मानव निर्मित है और प्रदूषण के लिए बिजली उत्पादन संयंत्र जिम्मेदार हैं। इण्डियन इंस्टीट्यूट और टैक्सिकोलोजी ने 1998 में ही 1200 लोगों में पारा विषैलेपन की जाँच की थी और पाया था कि 500 कण प्रति अरब जहर खून में मौजूद है जबकि 5.8 कण प्रति अरब की सीमा है। सब्जी, मछली और पीने के पानी में भी जहर मौजूद था। इस रिपोर्ट को कभी सार्वजनिक नहीं किया गया। ऐसी ही जाँच रिपोर्ट कई अन्य संस्थानों ने भी प्रस्तुत की और सबने ही इस बात की पुष्टि की कि इस इलाके की जिन्दगी में खतरनाक जहर घुल चुका है।

जाहिर है कि इस जहर से वहाँ के लोगों की जिन्दगी तबाह हो रही है। लोग मर रहे हैं या मौत से भी बदतर हालात मे धकले जा रहे हैं, जबकि इस इलाके के अधिकारी तथा केन्द और राज्य सरकार मौन साधे तमाशा देख रही है।

इस इलाके में 'विकास की लहर' 1962 में आयी जब रिहन्द बाँध बना, बिजली उत्पादन शुरू हुआ, खादानों से कोयला और चूना पत्थर की खुदाई शुरू हुई। इस मूलभूत ढाँचे ने उद्योगपतियों को आकर्षित किया। हिन्डालको (बिरला) ने एल्यूमिनियम संयंत्र लगाया, कनोडिया केमिकल ने कास्टीक सोडा का संयंत्र लगाया। उत्तर प्रदेश सरकार की डाला सिमेंट फैक्टरी लगी। यह सिलसिला आगे बढ़ता रहा और एनटीपीसी, लान्को, जेपी, आदित्य बिरला समूह का भी यहाँ अवतरण हुआ। इसी के साथ स्टोन क्रसिंग मशीन और चूना पत्थर खदानों का भी ताँता लग गया। आज सोनभद्र में हर रोज 12 लाख टन कोयला जलता है, जो कार्बन, सल्फर, नाईट्रोजन, ऑक्साइड, फ्लोराइड हवा में घोलता रहता है और आस-पास राख के ढेर लगाता रहता है। बरसात में बहकर प्रदूषित पानी रिहन्द के जलाशयों में जमा होता है, जो इसके निवासियों का एकमात्र जीवन स्रोत है। किसी भी खदान या संयंत्र में पर्यावरण नियंत्रण की पर्याप्त व्यवस्था नहीं है। प्रदूषण चरम पर है, फिर भी नये-नये खदान और ताप विद्युत संयंत्रों के लिए जमीन अधिग्रहण जारी है। जाहिर है कि इस पर रोक लगाने के बजाय विकास के नाम पर इसे बेलगाम बढ़ावा दिया जा रहा है।

इस इलाके के सार्वजनिक या निजी उद्यमों के अधिकारी या तो इस जानलेवा प्रदूषण को सिरे से खारिज कर देते हैं या इसे विकास की तुच्छ और अनिवार्य कीमत बताकर बात को रफा-दफा कर देते हैं। सबके पास इस बात को सही ठहरानेवाली अपनी जाँच रिपोर्ट है, जिसमें सब कुछ चकाचक है। यहाँ तक कि जल बोर्ड और प्रदूषण बोर्ड के अधिकारी उनके सुर में सुर मिलाते हुए कहते हैं कि पानी में प्रदूषण नहीं है और कुछ इलाके में है भी, तो सीमा के भीतर है। वे इस बात को भी नकारते हैं कि यहाँ के उद्योगों में पर्यावरण नियंत्रण की पर्याप्त व्यवस्था नहीं है। लेकिन इस इलाके की जमीनी हकीकत इन अधिकारीयों की गलत बयानी से तो नहीं बदल जायेगी।

जहाँ तक राजनीतिक पार्टीयों की बात है, यह स्वीकार करती हैं कि प्रदूषण अपने चरम पर है और इसके चलते यकृत, गुर्दे में कैंसर जैसी बीमारियाँ फैल रही हैं, लेकिन इसके लिए वे अपने विरोधियों पर जिम्मेदारी डालकर पल्ला झाड़ते हैं। इलाके के भाजपा नेता इसके लिए समाजवादी पार्टी को दोष देते हैं। वे कहते हैं कि हमने कई बार सवाल उठाया, लेकिन कोई सुनवाई नहीं हुई। सवाल यह है कि इतनी भयावह स्थिति के खिलाफ किसी भी पार्टी ने जन आन्दोलन क्यों नहीं खड़ा किया? कारण स्पष्ट है कि सभी पार्टियाँ अपने विरोधियों पर उद्योगपतियों के साथ मिलीभगत का आरोप लगाती है। यानी सब को राजनीति के लिए चन्दा चाहिए। फिर भला कौन मुँह खोले?

अभी हाल ही में जब इस इलाके के पर्यावरण विनाश की जानकारी नेशनल ग्रीन ट्रिब्यूनल के सामने रखी गयी, तो उसने सरकार से उस इलाके के लोगों को साफ पेय जल आपूर्ति का आदेश दिया। लेकिन इलाके के लोगों का कहना है कि पानी साफ करने के संयंत्र देख-रेख के आभाव में खराब पड़े हैं। सवाल यह है कि इस समस्या को जड़ से मिटाने के बजाय उसके सतही समाधान कितने कारगर हो पायेंगें।

इस इलाके में पैदा हो रही बिजली लोगों की जिन्दगी रौशन कर रही है, जबकि यहाँ के निवासियों की जिन्दगी अंधकारमय हो गयी है। विकास के नाम पर मुठ्ठी-भर लोंगों की खुशहाली की कीमत औद्योगिक इलाके के आम लोगों को घातक बिमारियों और मौत के रूप में चुकानी पड़ती है। आज जब विकास को आलोचना से परे बना दिया गया, इसके मार्ग की हर बाधा को हटाया जा रहा है, पर्यावरण की बात करना विकास विरोधी और देशद्रोही होने का पर्याय बना दिया गया है, तब इस महाविनाशकारी विकास के ऊपर सवाल उठाना अनिवार्य हो जाता है।

# अन्तरराष्ट्रीय छवि के लिए स्मार्ट सिटी

**हिन्दुस्तान में स्मार्ट** सिटीज विकसित करने के लिए मोदी बहुत उत्सुक हैं। अपने चुनावी भाषणों में भी मोदी ने देशवासियों को 100 स्मार्ट सिटी का सपना दिखाया था। उनके पास सपने दिखाने के लिए बहुत बड़ा बायोस्कोप है। लेकिन शायद उन्होंने यह न सोचा हो कि भारतीय शहरों को 'स्मार्ट सिटी' बना पाना आसान काम बिल्कुल नहीं हो सकता।

सबसे बड़ी दिक्कत ये है कि हमारे ज्यादातर पुराने शहर अनियोजित हैं, उनकी सही मैपिंग उपलब्ध नहीं है। इन शहरों की 70 से 80 फीसदी आबादी अनियोजित इलाकों में रहती है। इन इलाकों में लगातार आवाजाही होती रही है। ऐसे में आप काम की शुरुआत भी कैसे कर पायेगे। इससे आसान तो यही होगा कि नये शहर ही बसाये जायें, जहाँ हर चीज की योजना पहले से की गयी हो। एक अन्तरराष्ट्रीय छवि तैयार करने के उद्देश्य से मोदी सरकार स्मार्ट सिटी परियोजनाओं पर काम कर रही है लेकिन क्या उन्हें यह नहीं लगता कि काम करनेवाले शहर बनायें, जहाँ काफी कुछ हो सकता हो, इसके बजाय कि उसे सिर्फ स्मार्ट साबित करने पर चिन्ता की जाय।

स्मार्ट सिटी 21वीं सदी का एक शब्द है, जिसे किसी स्मार्टफोन या स्मार्टहाउस की तर्ज पर सोचा गया है। लेकिन किसी शहर को स्मार्ट कहना कुछ अजीब-सा लगता है, क्योंकि हर शहर की अपनी संस्कृति होती है, कैरेक्टर होता है। हर शहर अपने आप में काफी जटिल होता है, इसलिए उसके लिए 'स्मार्ट सिटी' शब्द का प्रयोग सही नहीं लगता। स्मार्ट सिटी के सवाल पर सरकार से लेकर इन योजनाओं पर काम करनेवाली बहुराष्ट्रीय कम्पनियों और आम लोग तक इस पर अलग-अलग सोच रखते हैं। ऐसा होना लाजमी भी है क्योंकि स्मार्टनेस की परिभाषा सभी के लिए अलग होती है। अब यदि हम किसी पश्चिमी देश की ही नकल करना चाहते हैं तो वह असल में गतिशील और अनुशासित एक ऐसा शहर हो जो काम करता हो, जहाँ लोग साईकिल चला पाते हों, सड़कों पर पैदल चलने की जगह हो, पार्क हो, हरियाली हो, यातायात सुलझा हुआ हो, सड़कें और इमारतें योजनाबद्ध तरीके से बनी हों, शहरी और सार्वजनिक यातायात सुलभ हो। हर जगह कूड़ा फैला हुआ न हो, शहर के भीतर नालों से बदबू न उठ रही हो। बिजली, पानी, इंटरनेट जैसी आम सुविधाओं की अबाध आपूर्ति हो।

शहरों को सुन्दर बनना ही चाहिए। साफ-सुथरे, सारी सुविधाओं से पूर्ण, पर्यावरण की दृष्टि से उपयुक्त शहर बनने ही चाहिए। इसमें किसी को क्या एतराज हो सकता है। लेकिन इसी का अगर दूसरा पहलू देखें तो, हमारे देश के करोड़ों घरों में पक्के शौचालय तक नहीं हैं। गाँवों में ऐसे घरों की संख्या करीब 11 करोड़ 50 लाख है, जहाँ शौचालय नहीं हैं। इन घरों में शौचालय की सुविधा देने का खर्च अनुमानतः 22 खरब से 26 खरब रुपये है। शहरों का विकास तो अच्छी बात है, लेकिन गाँवों की ओर भी उतना ही ध्यान देने की जरूरत है और उन्हें भी साफ-सुथरा बनाना चाहिए।

किसी भी शहर की रूपरेखा में आठ महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ होती हैं। सुचारू एवं चुस्त-दुरुस्त सरकारी प्रशासन, ऊर्जा-पानी, बिल्डिंग, पर्यटन, यातायात, स्वास्थ्य, शिक्षा और सुरक्षा की बेहतर सुविधाएँ। एक शहर जो अपनी मूलभूत सुविधाओं का भरपूर इस्तेमाल करना जानता हो, उसी के जरिए अपने नागरिकों को तमाम तरह की सुविधाएँ देना जानता हो, उनकी सुविधाओं और उनके लिए अवसर मुहैया कराने के लिए केन्द्रित है, वह स्मार्ट सिटी है। लेकिन नागरिकों को इन शहरों के लायक कैसे बना पाएँगे? वे तो अपने ही ढंग से चलेंगे, नये और स्मार्ट नागरिक कहाँ से आएँगे? मैं अभी कनाडा के शहर वैंकूवर में हूँ और यहाँ के प्रशासन की सक्रियता, सौजन्यता और संवेदनशीलता देख रहा हूँ। प्रशासन की जवाबदेही सुनिश्चित है उसमें अगर मगर नहीं चलता। भारत को इस तरह की प्रशासनिक सक्रियता और संवेदनशीलता की दरकार है जो सदियों से नहीं दिखाई देती। किसी भी स्मार्ट सिटी में सूचना तकनीक का बखूबी इस्तेमाल किया जाता है। सेंसर, कैमरे, वायरलैस उपकरणों, डाटा सेन्टर बनाये जाते हैं। स्मार्ट सिटी को बनाते वक्त इसे इको फ्रेंडली भी बनाया जाता है। स्मार्ट सिटी में ऊर्जा बचाने के लिए भी पूरे इंतजाम किये जाते हैं। भारत में स्मार्ट सिटी बनाने को लेकर सिंगापुर ने मोदी सरकार के सामने इच्छा भी जाहिर की है। मोदी सरकार ने भारत में टियाजिन नॉलेज सिटी जैसी स्मार्ट सिटी बनाने को लेकर अपनी रुचि दिखायी है।

सिंगापुर के विदेश मंत्री के षणमुगम ने बताया कि मोदी स्मार्ट सिटी में पोर्ट मैनेजमेंट, स्किल डेवलपमेंट, पानी के इंतजाम को लेकर काफी गम्भीर हैं। षणमुगम ने मोदी सरकार को ये विश्वास दिलाया है कि सिंगापुर की तकनीक और अनुभव भारत के साथ साझा करेंगे। सिंगापुर ने दिल्ली-मुम्बई औद्योगिक कॉरिडोर के बीच 7 ग्रीनफील्ड स्मार्ट सिटी बनाने में सहयोग करने की इच्छा जतायी है। इन स्मार्ट सिटीज में घरों से निकलनेवाले कूड़े-कचड़े को पाइपलाइन के जरिये सीधे वेस्ट प्रोसेसिंग प्लांट तक पहुँचाया जायेगा। सिटी के अन्दर ही रोज के काम को व्यवस्थित करने के लिए इनफॉर्मेशन एण्ड कम्युनिकेशन सेन्टर भी बनाया जायेगा।

असल में एक बड़ी लागत लगाकर शहर बना लेना आसान है, बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ इसके लिए तैयार बैठी हैं। उन्हें तो लाभ कमाना है। वहीं चहेते देसी ठेकेदारों के भी बारे-न्यारे हो जायेंगे। विडम्बना यह है कि देश में 100 स्मार्ट सिटीज बनाने की प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी की महत्त्वाकांक्षी योजना गुजरात में ही संकट में घिरती दिख रही है। मोदी के मुख्यमंत्री रहते 2007 में गुजरात में 7,800 करोड़ रुपये के पहले स्मार्ट सिटी गिफ्ट की नींव रखी गयी थी, लेकिन अब यह प्रोजेक्ट लालफीताशाही के जाल में फँसता नजर आ रहा है। बिल्डिंग का पूरा नहीं बनना, पावर यूटिलिटी लाइन्स का न होना और सबसे ज्यादा अहम कॉरपोरेट की गैर मौजूदगी। सपना देखना कोई बुरी बात नहीं है लेकिन उसको अमली जामा किस तरह और किन लोगों की कीमत पर पहनाया जाता है, यही असल बात है। देखते हैं मोदी किस तरह अपने इस ख्वाब की ताबीर पूरी कर पाते हैं।

**-शैलेन्द्र चौहान**

# जानलेवा मेडिकल कचरा

**ऐसी सूचनाएँ प्रायः** मीडिया की सुर्खियों में रहती हैं कि कानपुर के अस्पतालों में बायोमेडिकल कचरा निस्तारण व्यवस्था पूरी तरह असफल है। साहिबाबाद में ट्रांस हिंडन क्षेत्र के 250 अस्पतालों का प्रतिदिन 400 किलोग्राम से अधिक बायोमेडिकल कचरा इधर-उधर फैला पड़ा रह जाता है। गोंडा जिला अस्पताल के दोनों परिसरों में 480 क्विंटल मेडिकल कचरे का ढेर लगा है। इलाहाबाद के कई मोहल्लों में खून से सने सिरिंज, ग्लब्स व ऑपरेशन के बाद की गाज-पट्टी धड़ल्ले से इधर-उधर फेंकी जा रही हैं। हरदोई में आपरेशन के बाद कटे-फटे अंग जिला अस्पताल के बाहर रोड पर फेंक दिये जाते हैं। रायपुर (छत्तीसगढ़) के अस्पतालों के मेडिकल कचरे से घुमंतू बच्चों की जान पर बन आयी है। नसबन्दी कांड के बाद एक्सपायरी दवा और मेडिकल कचरे को लेकर एक टीम ने रायपुर शहर का जायजा लिया तो अस्पतालों के आसपास खुले और डस्टबिन में इंजेक्शन, खून जाँचनेवाली किट, खून से सनी रुई और मानव अंग तक खुले में पड़े पाये गये।

भारत में पचास प्रतिशत से अधिक मेडिकल कचरा नदियों में बहाया जा रहा है। इनमें से अधिकांश कचरा सड़ता-गलता नहीं और जमीन में पहुँचकर भूगर्भ जल को जहरीला कर देता है। अकेले देश की राजधानी दिल्ली में ही प्रतिदिन मेडिकल और इलेक्ट्रानिक उपकरणों आदि का 583 मीट्रिक टन कचरा जमीन और जल में जहर घोल रहा है। हालात इतने बदतर हो चुके हैं कि बायोमेडिकल कचरे के ढेरों से सिरिंज, सुइयाँ, गोलियों की शीशियाँ, प्लास्टिक ड्रिप इत्यादि दोबारा निजी मेडिकल क्लीनिकों को बेच दिये जाने की भी खबरें मिल रही हैं। सरकार भी मानती है कि देश के कुल कूड़े का महज पाँच प्रतिशत ही निस्तारित हो पा रहा है। कार्बनिक प्रदूषक कम करने को लेकर संयुक्त राष्ट्र औद्योगिक विकास संगठन ने भी एक परियोजना शुरू की है। पश्चिमी देशों में बायोमेडिकल कचरे को ठिकाने लगाना व्यावसायिक गतिविधि है।

कानपुर शहर तो बॉयोमेडिकल कचरे का जैसे ढेर बन गया है। शहर में प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड में पंजीकृत 305 संस्थाओं से जिनमें सरकारी अस्पताल, नर्सिगहोम और पैथालॉजी लैब्स शामिल हैं, से रोजाना तीन हजार किलो मेडिकल कचरा निकलता है, लेकिन निस्तारण पचास फीसदी का भी नहीं हो पा रहा है। प्रदूषण नियंत्रण विभाग अस्पतालों को नोटिस जारी कर खामोश हो लेता है। मेडिकल कचरे के निस्तारण को लेकर शहर के हैलट व उससे सम्बद्ध अस्पतालों, कांशीराम चिकित्सालय, रीजेंसी, रतनदीप, महावीर नर्सिंग होम, एस लकी नर्सिंग होम, राजाराम ट्रॉमा सेंटर, ब्रिज मेडिकल सेंटर जैसे निजी अस्पताल का मेडिकल पाल्यूशन कंट्रोल सोसाइटी (एमपीसीसी) के साथ समझौता हुआ था। इसके बाद भी इन अस्पतालों के इर्दगिर्द खुले में कचरे के अंबार लगे रहते हैं। ग्रीन ट्रिब्यूनल ने जैव चिकित्सा अवशिष्ट (बायोमेडिकल वेस्ट) निस्तारण के संबन्ध में उत्तर प्रदेश प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड से जानकारी तलब की है।

हैलट अस्पताल में ओपीडी ब्लॉक के पीछे, जच्चा-बच्चा में बाहर सड़क के किनारे, चेस्ट हास्पिटल में कैंपस की बायीं ओर व संक्रामक रोग अस्पताल के पीछे की तरफ मेडिकल कचरे के ढेर लगे रहते हैं। प्रायः कर्मचारी उसमें आग लगा देते हैं। धुएँ से मरीज, तीमारदार और डॉक्टरों को भी संक्रमण का खतरा रहता है। अकेले यहाँ के हैलट अस्पताल से रोजाना सौ किलो से अधिक मेडिकल कचरा निकलता है। इसके निस्तारण के लिए दहन संयंत्र (इंसीनरेटर) भी है। इसके बावजूद भारी मात्रा में मेडिकल कचरा मनोरोग विभाग एवं ओपीडी, इमरजेंसी ब्लॉक, सर्जरी ओटी के पीछे डंप पड़ा रहता है। इससे निमोनिया, हैजा, कालरा, डेंगू, स्वाइन फ्लू, मेनेंजाइटिस, हेपेटाइटिस-बी जैसी बीमारियाँ फैलने का खतरा रहता है। उर्सला व डफरिन के कर्मी भी मेडिकल कचरे को सामान्य कूड़े के साथ फेंक देते हैं।

यही स्थिति क्लीनिक, पैथालॉजी लैब्स व छोटे नर्सिंगहोम की है। शहर के लगभग तीन दर्जन निजी अस्पताल मेडिकल कचरा निस्तारित न करने वालों की सूची में शामिल हैं। यही हाल देश के दूसरे शहरों का भी है।

## बायोमेडिकल कचरा प्रबन्धन कानून

बायोमेडिकल कचरा प्रबन्धन कानून (1998) के मुताबिक ऐसा कचरा पैदा करनेवाले स्वास्थ्य सेवा केन्द्रों के लिए यह सुनिश्चित करना अनिवार्य है कि कचरे के प्रबन्धन से मानव स्वास्थ्य और पर्यावरण पर किसी तरह का प्रतिकूल प्रभाव न पड़े, लेकिन इस कानून का कहीं पालन नहीं किया जा रहा है। बायोमेडिकल कचरे का समुचित निपटारा न कर सार्वजनिक स्थान पर फेंकना म्यूनिसिपल कारपोरेशन एक्ट, पुलिस एक्ट 69 की धारा 34, इंवायरमेंट प्रोटेक्शन एक्ट 86 की धारा 15 का भी उल्लंघन है। इस अपराध के लिए दोषी पाये जाने पर आरोपी को पाँच साल तक की सजा का प्रावधान है। हैरत की बात है कि नियमों का सबसे ज्यादा उल्लंघन सरकारी अस्पतालों में हो रहा है।

पर्यावरण एवं वन मंत्रालय द्वारा जारी एक सूची में देश के 13,037 स्वास्थ्य सेवा केन्द्रों को बायोमेडिकल कचरा उत्पादन नियमों का उल्लंघन करते पाया गया है। मंत्रालय के आँकड़ों के अनुसार, देश में रोजाना 4,05,702 किलो बायोमेडिकल कचरा पैदा होता है, जिसमें से 2,91,983 किलो कचरा ही ठिकाने लगाया जाता है। इस आँकड़े से इस बात की भी पुष्टि होती है कि रोजाना 1,13,719 किलो कचरा नष्ट नहीं किया जाता और वह अनिवार्य रूप से स्वास्थ्य प्रणाली में वापस आ जाता है। आँकड़े बताते हैं कि नियमों का उल्लंघन करनेवाली सबसे ज्यादा मेडिकल इकाइयाँ महाराष्ट्र में 4,667, बिहार में 1,221 और केरल में 1,547 हैं। जाँच के दौरान सबसे ज्यादा बायोमेडिकल कचरा उगलनेवाले तीन राज्यों में कर्नाटक 62,241 किलो, उत्तर प्रदेश में 44,392 किलो, महाराष्ट्र 40,197 किलो

पाया गया। कर्नाटक में नियमों का सबसे ज्यादा उल्लंघन होता है क्योंकि वह रोजाना 18,270 किलो मेडिकल कचरे को ठिकाने ही नहीं लगाया जाता है।

मेडिकल कचरा निस्तारण के मानक तय हैं कि किस तरह के बैग में किस तरह का कचरा इकट्ठा किया जाना चाहिए। मसलन, नीले-काले बैग में ग्लूकोज की बोतल व अन्य कचरे, लाल बैग में सीरिंज, वीगो, ग्लूकोज बोतल, पीले बैग में आपरेशन थियेटर के कचरे, कटे अंग, ड्रेसिंग के बाद निकला कचरा आदि। निस्तारण के लिए कचरे को इंसीनेटर के पहले चेंबर में 750 डिग्री, जबकि दूसरे में 1050 डिग्री तापमान पर रखा जाता है। आटोक्लेव करने में 15 पाउंड प्रेशर से स्टरलाइज करना जरूरी होता है। इसके बाद कचरे को पॉलीथिन में लपेट कर जमीन में दबाने और उस स्थान के ऊपर पौधारोपण के निर्देश हैं।

## बीमारियाँ और मौतें

शरीर के खराब अंग, ट्यूमर, ग्लैंड्स, टिश्यू व सर्जरी के दौरान निकाले गये मानव शरीर के हिस्से ऐसे वेस्ट में आते हैं। ऑपरेशन के दौरान निकले रोगी के खून, फ्लूड, काटन आदि के सम्पर्क में आने से दूसरे लोगों को भी बीमारी का संक्रमण हो जाता है। कैंसर विकिरणयुक्त कचरे में कैंसरग्रस्त अंग और बाडी फ्ल्यूड की विट्रो एनालिसिस आदि शामिल हैं। मेडिकल कचरे से सबसे ज्यादा हेपेटाइटिस बी, हेपेटाइटिस सी और एड्स के संक्रमण की आशंका रहती है। अस्पतालों में इस्तेमाल हो चुकी सीरिंज चुभने से अस्पताल के कर्मचारियों को भी संक्रमण हो जाता है। इनमें सबसे खतरनाक निडिल है, जो तमाम असाध्य रोगों में इस्तेमाल होती हैं। नेशनल इंस्टिट्यूट ऑफ हेल्थ एण्ड फैमिली वेलफेयर की एक रिपोर्ट के मुताबिक हेपेटाइटिस बी के संक्रमित लोगों में से तीन प्रतिशत तो सिर्फ मेडिकल कचरे की वजह से बीमार होते हैं, जबकि प्वाइंट तीन फीसदी एड्स पीड़ितों को यह बीमारी भी मेडिकल कचरे में पड़ी सुईयों के चुभने से हो जाती है। खुले में फेंके जाने वाले मेडिकल कचरे से संक्रमण तो फैल ही रहा है, यह जानलेवा भी साबित हो रहा है।

अगर कचरे को 1,150 डिग्री सेल्सियस के निर्धारित तापमान पर भस्म नहीं किया जाता तो यह लगातार डायोक्सिन और फ्यूरान्स सरीखे आर्गेनिक प्रदूषक पैदा करता है, जिससे कैंसर, प्रजनन और विकास संबन्धी परेशानियाँ पैदा हो सकती हैं। ये रोग प्रतिरोधक प्रणाली, प्रजनन क्षमता पर असर डालते हैं, शुक्राणु कम करते हैं और मधुमेह का कारण बनते हैं। फरवरी 2009 में गुजरात के मोडासा कस्बे में वायरल हेपिटाइटस की वजह से 50 से ज्यादा लोगों की मौत हो गई थी। स्वास्थ्य विभाग की जाँच से पता लगा कि बायोमेडिकल कचरे को ठीक से ठिकाने न लगाए जाने की वजह से घातक वायरस फैल गया। हर बड़े शहर में कचरा बीनने वाले बच्चे चर्म रोग का शिकार हो रहे हैं लेकिन बाल संरक्षण क्षेत्र में काम करने वाले तमाम गैर सरकारी संगठनों के होंठ भी सिले हुए हैं।

निजी अस्पताल मुनाफे की हवस के चलते लागत घटाने के लोभ में और सरकारी अस्पताल स्वास्थ्य बजट में कमी के चलते कचरे के निस्तारण में आपराधिक लापरवाही बरत रहे हैं। इसके खतरों की जानकारी सबको है। इस पर नियंत्रण के लिए अलग-अलग विभागों के अधिकारीगण भी नियुक्त हैं। जाहिर है कि यह अनजाने में हो रही गलती नहीं, बल्कि जनता की जिन्दगी से जान-बूझकर खिलवाड़ है। इस लापरवाही के कारण हमारे देश के सरकारी और निजी अस्पताल जितने रोगियों का इलाज करते हैं, उससे कई गुना अधिक अबोध और निर्दोष लोगों को बेवजह जानलेवा बीमारियों का शिकार बनाते हैं। इस व्यवस्था में निहित हृदयहीनता और चरम स्वार्थ का इससे बड़ा प्रमाण भला और क्या हो सकता है?

**-जय प्रकाश त्रिपाठी**

**स्वास्थ्य मंत्री कहता है-**
**''डॉक्टरों को निःस्वार्थ भाव से सेवा करनी चाहिए।''**
**हम हँसने लगते हैं।**
**शिक्षा मंत्री कहता है**
**''शिक्षा का उद्देश्य नौकरी नहीं, चरित्र निर्माण है।''**
**हम हँसने लगते हैं।**
**कोई मंत्री कहता है-**
**''शासकीय कर्मचारियों को जनता की सेवा करनी चाहिए।''**
**हम हँसने लगते हैं।**
**कितनी कड़ी और लगातार मेहनत की है इन लोगों ने हर आदर्श को मजाक बना देने के लिए।**

**--हरिशंकर पारसाई**

**पृष्ठ 41 का शेष**

इसका नतीजा यह हुआ कि ठेकेदार ने इन ठेका कर्मियों की अगुआई करनेवाले सुरजीत श्यामल को सेवा खराब होने का बहाना करके नौकरी से निकाल दिया, जबकि उन्हें विभाग की ओर से अच्छे काम के लिए मेरिट अवार्ड मिल चुका है। अगले कदम के रूप में ठेका कर्मियों ने दिल्ली उच्च न्यायालय में याचिका दायर की, जिस पर सुनवाई करते हुए न्यायालय ने भारत सरकार आईआरसीटीसी और ठेकेदार को नोटिस जारी किया है। 4 महीने बीत जाने के बावजूद अभी तक सरकार ने अपना जवाब नहीं दिया है।

ठेका कर्मियों के साथ भेदभाव और उनका अमानवीय शोषण आज हर विभाग में, हर कार्यालय में आम बात है। देश-भर में अलग-अलग विभागों के ठेका कर्मियों का आन्दोलन भी चलता रहता है। इस कानूनी लड़ाई का फैसला क्या होगा यह कहना अभी मुश्किल है, लेकिन संगठित प्रतिरोध की दिशा में उठाया गया इन नौजवानों का कदम साहसिक, सराहनीय और उम्मीद जगानेवाला है।

**-श्यामल कुमार**

# ठेका कर्मियों के साथ भेदभाव के खिलाफ एक लड़ाई

**देश की समस्यों** में सबसे अहम समस्या बेरोजगारी है। सरकार इस समस्या को खत्म करना तो दूर, इस पर बात करने से भी कतराती है। आज हर क्षेत्र में सरकार ठेका प्रथा को बढ़ावा दे रही है। आज से 44 साल पहले देश की संसद ने ठेका मजदूर (संचालन एवं उन्मूलन) कानून 1970 बनाया था। तब सरकार ने यह माना था कि ठेका मजदूरों की भर्ती के के चलते कई समस्याएँ सामने आ रही हैं। इसे पूरी तरह से खत्म करने के लिए ही यह कानून बनाया गया था। दूसरी पंचवर्षीय योजना में योजना आयोग ने त्रिपक्षीय कमेटियों (सरकार-मालिक-मजदूर) की सिफारिश व आम राय से यह माना था कि--

1. जहाँ कहीं भी सम्भव है, ठेका मजदूरों द्वारा किये जा रहे काम को ही समाप्त कर दिया जाय।

2. जहाँ कहीं यह सम्भव न हो, वहाँ ठेका मजदूर से काम लिया जाय, वेतन अदायगी व अन्य जरूरी सुविधाएँ सुनिश्चित की जाएँ।

इन दोनों कामों को लागू करवाने की जिम्मेदारी केन्द्र व राज्य सरकारों के अधीन काम करनेवाले श्रम विभाग की थी। परन्तु सरकार और श्रम विभाग ने इस कार्य को ईमानदारी से अंजाम नहीं दिया है।

इस कानून के बनने के 44 वर्षों का अनुभव यही है कि सरकार ने ठेका मजदूरी के संचालन व उन्मूलन की दिशा में कोई गम्भीर प्रयास नहीं किए। उलटा सरमायादारों के हक में इस प्रथा को नग्न रूप से बढ़ावा दिया गया। 1990 के बाद से नवउदारवादी नीतियों के तहत इसमें और तेजी आयी है।

शर्म की बात तो यह है कि निजी कारखानों/ संस्थानों के इस खेल में सरकारें भी शामिल हो गयी हैं। सरकारी क्षेत्र में होनेवाले कार्य का 70 से 80 प्रतिशत ठेका मजदूरों द्वारा किया जा रहा हैं। यहाँ तक कि सार्वजनिक इकाईयों, सरकारी अस्पतालों, स्कूलों, कॉलेजों, डीटीसी, दिल्ली जल बोर्ड, बिजली विभाग, एमसीडी इत्यादि में डॉक्टरों, शिक्षकों, ड्राईवरों, कन्डक्टरों व कर्मचारियों की स्थायी पदों पर भर्ती न करके साल दर साल ठेके पर भर्ती की जा रही है।

इंडियन स्टाफिंग फैडरेशन की रिर्पोट के अनुसार आज पूरे देश में लगभग 1 करोड़ 23 लाख लोग सरकारी विभाग में कार्यरत है, जिनमें 69 लाख लोग केवल ठेके पर काम कर रहे हैं। सरकार मानती है कि ठेका मजदूरों को समान काम करने के वावजूद समान वतन का भुगतान नही किया जा रहा है। यही असमान व्यवहार विद्रोह की ओर मजदूरों को संघर्ष के लिए प्रेरित करता है, जिसका गम्भीर परिणाम आये दिन देखने को मिलते है। मारुति उद्योग, गुडगाँवा में एक प्रबन्धक की मौत, उस घटना के बाद 147 मजदूरों को जेल में बन्द कर दिया जाना और उस औद्योगिक क्षेत्र में लगातार बढ़ता असन्तोष इसका एक उदाहरण है। उसके बाद सड़क से लेकर संसद तक भारी हंगामे के बाद तत्काल सरकार ने हस्तक्षेप किया। चीफ लेबर कमीश्नर (सेंट्रल) ने 23 जनवरी 1913 को एक सरकुलर सभी मंत्रालयों को जारी किया, जिसके तहत--

अगर कोई ठेका कर्मी अपने प्रधान नियोक्ता के स्थायी कर्मी के बराबर कार्य करता है, तो ठेकेदार द्वारा नियुक्त ठेका कर्मी का वेतन, छुटटी और सेवा शर्तें उस संस्था के प्रधान नियोक्ता के वर्कर के बराबर होंगी।

इस सरकुलर में ठेका मजदूर (संचालन एवं उन्मूलन) कानून 1970, और उसके केन्द्रिय नियम के तहत उल्लंघन करनेवाले पर कानूनी कारवाई करने की बात जोर देकर कही गयी।

यह सरकुलर सभी केन्द्रिय मंत्रालयों के साथ ही साथ चेयरमैन, रेलवे बोर्ड को भी भेजा गया। रेलवे बोर्ड ने भी अपने एक सरकुलर के माध्यम से चीफ लेबर कमीश्नर (सेंटरल) के सरकुलर को एमडी, इंडियन रेलवे कैटरिंग एण्ड टूरिज्म कॉपोरेशन (आईआरसीटीसी) सहित अपने सभी विभागों को भेज कर इस सरकुलर का कड़ाई से पालन करने का निर्देश दिया। लेकिन बात आयी-गयी हो गयी।

पिछले दिनों आईटी सेन्टर, आईआरसीटीसी, नई दिल्ली के ठेका कर्मियों ने जिनका काम अपने प्रधान नियोक्ता के स्थायी कर्मियों के समान था, इस भेदभाव के खिलाफ कदम उठाया। आईटी सेन्टर में केवल 57 आईआरसीटीसी (प्रधान नियोक्ता) के अपने कर्मी हैं, जबकि लगभग 265 ठेका कर्मी (ठेकेदार द्वारा रखे गये) पिछले 3 वर्षों से भी अधिक समय से कार्यरत हैं। इनमें कई लोग तो पिछले 10 वर्षों से भी अधिक समय से ठेके पर काम कर रहे हैं। कर्मियों को जानकारी दिये बिना समय-समय पर ठेकेदार बदल-बदलकर रिकार्ड में हेराफेरी कर, आईआरसीटीसी (प्रधान नियोक्ता) द्वारा उन्हें ग्रेच्यूटी से वंचित रखा जाता है। साथ ही, एक तरफ तो अपने कर्मियों को आईआरसीटीसी हर महीने 40,000 रुपये वेतन व अन्य सुविधाएँ देती है, जबकि समान योग्यता और अनुभव होने के बाबजूद ठेका कर्मियों को सिर्फ 11,000-12,000 रुपये मासिक भुगतान करती है। यहाँ के ज्यादातर ठेका कर्मियों के पास पीएफ खाता नहीं है और जिसके पास है भी उनका नियोक्ता के हिस्से का अंश और उनका अपना अंश, दोनों उन्हीं के वेतन से काटा जाता है। ईएसआई की सुविधा के लिए भी नियोक्ता अपना अंश नहीं देता। इसके किस्त की कटौती ठेका कर्मियों से ही की जाती है। 300 कर्मचारी होने के बावजूद वहाँ न तो साफ पीने का पानी, न अलग से कोई विश्राम गृह, न महिला कर्मियों के बच्चों के लिए पालना घर और न ही प्राथमिक चिकित्सा की व्यवस्था है। यह ठेका मजदूर (संचालन एवं उन्मूलन) कानून 1970, का घोर उल्लंघन है। इतना सब कुछ ठेकेदार के कर्मी चुपचाप सहने को विवश थे। उनका भविष्य अंधकारमय और निराशजनक लगने लगा था।

आईआरसीटीसी के 125 ठेका कर्मियों ने ठेका मजदूर कानून 1970 के तहत समान काम के लिए समान वेतन की लड़ाई छेड़ दी। पहले उन्होंने विभाग के स्तर पर ज्ञापन दिया।

**शेष पृष्ठ 40 पर**

# ग्राहम स्टेन्स मामला
# इस फैसले को पढ़ना आँख खोलनेवाला है

**-ए. जे. फिलिप्स**

**कई दशक पहले,** विराम-चिन्हों के बारे में पढ़ाने के दौरान हमारे अध्यापक ने, जो रेन एण्ड मार्टिन की पुस्तक को अंग्रेजी व्याकरण की बाइबिल की तरह मानते थे, हमें एक कहानी सुनायी थी। वे हमें समझाने की कोशिश कर रहे थे कि कैसे एक अर्ध विराम (,) भी कितना महत्त्व रखता है। हत्या के मुकदमें की सुनवाई कर रहे एक न्यानधीश ने एक छोटा, सारगर्भित, लिखित फैसला सुनाया-''उसे फाँसी दो मत रिहा करो''। ''उसे फाँसी दो'' वाले हिस्से पर जोर दिया गया था।

प्रतिवादी पक्ष ने इसके खिलाफ उच्च न्यायालय में अपील की और तर्क दिया कि-''माई लॉर्ड अगर निचली अदालत ने फैसले में एक अर्ध विराम लगाने की भूल न की होती तो मुझे आपका वक्त जाया न करना पड़ता। तब फैसला इस तरह पढ़ा जाता ''उसे फाँसी दो मत, रिहा करो।'' इस कहानी को सुनाने के बाद हमारे अध्यापक ने बताया कि ''देखो एक अर्ध विराम ने कैसे अर्थ को पूरी तरह बदल दिया! जहाँ अर्ध विराम लगाना आवश्यक हो वहाँ उसे लगाना सीखो।''

हमारी कक्षा का एक प्रतिभाशाली छात्र खड़ा हुआ और उसने अध्यापक से पूछा ''सर, प्रतिवादी की अपील पर भरोसा करने के बजाय ऊपरी अदालत का न्यायाधीश निचली अदालत के न्यायाधीश से स्पष्टीकरण माँग सकता था।''

छात्रों को सवाल पूछने के लिए प्रोत्साहित करनेवाले अध्यापक ने उसे जवाब दिया- ''ऐसा करना बुद्धिमत्तापूर्ण होता, लेकिन इसमें कुछ समस्याएँ हैं। पहली तो यही कि एक न्यायाधीश दूसरे न्यायाधीश से जिरह नहीं कर सकता। दूसरी, जब कोई फैसला लिख दिया जाता है तो वह स्वतः प्रमाण होता है। यहाँ तक कि एक बार फैसला सुना देने के बाद न्यायाधीश को इसका सम्पादन करने की भी आजादी नहीं है।''

कानूनी अवस्थिति स्पष्ट करने के बाद, मेरे अध्यापक अपने मुद्दे पर वापस आये- ''अब मेरे प्यारे विद्यार्थियो, लिखने से पहले स्पष्ट रूप से सोचो और जो आपने लिखा है उसे यह सुनिश्चित करने के लिए एक बार दोहराओ कि उसमें वही व्यक्त हुआ है जो आप कहना चाहते थे और सभी विराम चिन्ह सही जगह पर हैं।''

मुझे मेरे अध्यापक और उनके भविष्यसूचक शब्द 22 जनवरी 2011 को उस वक्त याद आ गये जब आस्ट्रेलियाई मिशनरी ग्राहम स्टूअर्ट स्टेन्स और उनके दो बच्चों, फिलिप और टिमोथी की बर्बर हत्या की 12वीं वर्षगाँठ पर मैंने सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश न्यायमूर्ती पल्लीसामी सदाशिवम व बी.सी. चौहान की दो सदस्यीय खण्डपीठ द्वारा दिये गये एक फैसले को पढ़ा। इस फैसले में तीन अनगढ़ वाक्य थे, जिन्होंने मुझे बहुत परेशान किया। मैं पहले दो वाक्यों को उद्धृत करने की अनुमति चाहूँगा-

''प्रस्तुत मामले में, बावजूद इसके कि ग्राहम स्टेन्स और उनके दो बच्चों की मनोहरपुर में एक गाड़ी के अन्दर सोते समय जलाकर हत्या कर दी गयी थी, इसका उद्देश्य, ग्राहम स्टेन्स को उनकी धार्मिक गतिविधियों, गरीब आदिवासियों के ईसाईयत में धर्मान्तरण के लिए सबक सिखाना था। उच्च न्यायालय द्वारा इन सभी पहलुओं पर सही ढंग से ध्यान दिया गया और मृत्युदण्ड को उम्रकैद में बदल दिया गया जिस पर हम अपनी सहमति जताते हैं।''

शायद, यह पहली बार हुआ कि शीर्ष न्यायालय के दो विद्वान न्यायाधीश एक हत्याकाण्ड का बचाव कर रहे थे क्योंकि हत्यारों का उद्देश्य महान था-- ग्राहम स्टेन्स को सबक सिखाना। हम एक क्षण के लिए मान लें कि स्टेन्स अपराधी थे और न्यायाधीशों के अनुसार, सबक सिखाये जाने के पात्र थे। लेकिन उनके किशोर बेटों के बारे में क्या कहा जाय?

अपने पिता के साथ वे भी जिन्दा जला दिये गये थे। सौभाग्य से, उस रात मिशनरी की पत्नी ग्लेडेज स्टेन्स और उनकी बेटी, जिसने अभी अपनी किशोरावस्था पार ही की थी, अलग सोयी हुई थी। वरना, वे भी जिन्दा जला दी गयीं होतीं। मैं आश्चर्यचकित था कि यह कैसा न्याय था, जहाँ सम्बन्धित न्यायधीशों ने हत्या को न्यायोचित ठहरा दिया था।

हम सभी जानते हैं कि रामायण महर्षि वाल्मिकी द्वारा लिखी गयी थी, जिन्होंने अपना जीवन एक डाकू के रूप में शुरू किया था (पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय के एक हालिया फैसले में इस विश्वास को आधारहीन माना गया है)। जो भी हो, एक रात उसने अपने ठिकाने के पास से गुजर रहे कुछ स्वामियों को लूटने की कोशिश की। जैसा की होना ही था, उसे उनके पास से कोई भी कीमती सामान नहीं मिला, क्योंकि वे आधुनिक युग के, मर्सीडीज में चलनेवाले धर्माचारियों जैसे नहीं थे।

उनमें से एक स्वामी ने उससे यह कहने की हिम्मत की कि उसे अपने कुकर्मों का फल भोगना होगा। उसने इसका प्रतिकार करते हुए कहा-- ''मैं अपने परिवार का पेट पालने के लिए डकैत बना हूँ। मैं अपने कर्मों का फल अकेला क्यों भोगूँगा।''

स्वामी ने उससे अपनी पत्नी से पूछकर वापस आने के लिए कहा। उसकी पत्नी ने कहा कि ''मैं और मेरे बच्चे क्यों कष्ट भोगें? हमारा पेट पालना तुम्हारा कर्तव्य है। अगर तुम गलत तरीकों से ऐसा करते हो तो इसके लिए दोषी तुम हो, हम नहीं।''

डाकू वाल्मिकी के लिए यह घटना आँखे खोल देनेवाली थी, जो नहीं जानते थे कि क्या करना चाहिए। वे स्वामी के पास आये। स्वामी ने उन्हें तपस्या करने की सलाह दी जिसका अन्त 1000 साल बाद हुआ। तपस्या के दौरान उन्हें दीमकों ने ढक लिया। अन्त में, तपस्या से बाहर आकर उन्होंने रामायण लिखी।

मुझे आश्चर्य है कि न्यायाधीशों ने डाकू वाल्मिकी की पत्नी जैसी सामान्य बुद्धि से क्यों काम नहीं लिया कि भीड़ ने दो निर्दोष बच्चों की भी हत्या की थी, इसलिए मामले को ''दुर्लभतम से दुर्लभतम'' मानना चाहिए था, जिसमें अपराधी कठोरतम दण्ड का भागी होता है।

मेरे कुछ पाठकों को आश्चर्य हो सकता है कि यह मामला दो न्यायाधीशों के सामने कैसे आया। पिता और पुत्रों को जिस भीड़ ने जिन्दा जला दिया था उसका नेतृत्व दारा सिंह कर रहा था। दारा सिंह बजरंग दल का एक प्यादा था और ओडीशा का रहनेवाला नहीं था। पहले मुस्लिमों को निशाना बनाकर और बाद में ईसाईयों के खिलाफ काम करके वह कुख्यात हुआ था। ओडीशा उच्च न्यायालय ने अन्य सभी आरोपियों को बरी कर दिया तथा दारा सिंह और एक अन्य आरोपी की सजा को घटाकर मृत्युदण्ड से आजीवन कारावास में बदल दिया।

मामले की जाँच कर रही सीबीआई ने अधिक कठोर सजा की माँग करते हुए दारा सिंह के खिलाफ शीर्ष अदालत में अपील दाखिल कर दी। निश्चित ही, मामला अब ग्लेडिस स्टेन्स का नहीं रह गया था, क्योंकि उसने तो पहले ही अपने पति व बच्चों के हत्यारें को माफ कर दिया था। इसी तरह, चर्च के लिए भी मौत की सजा स्वीकार्य नहीं थी। मैं आगे बढ़ूँ इससे पहले मैं महर्षि वाल्मिकी की ओर वापस लौटने की इजाजत चाहूँगा।

बहुत से लोग सोचते हैं कि रामायण उनकी पहली रचना थी। नहीं, सबसे पहली कविता भी उन्होंने ही लिखी थी, जो कुछ अलग तरह की थी। इसकी कहानी है कि कवि एक नदी के किनारे टहल रहे थे तभी उन्होंने एक नर पक्षी का रुदन सुना जिसकी जोड़ी को एक शिकारी ने मार दिया था। भावुक और क्रुद्ध वाल्मिकी ने एक श्लोक कहा-- ''मानिषाद प्रतीष्ठातुम समगह साश्वतिसमाह। यत क्रोन्च मिथुनादेकम शोकम अवधीम काम मोहितम।।''

इसका अर्थ है ''जब नर पक्षी अपने जोड़े के साथ प्रमुदित था, तुमने उसे मार दिया। यह क्रूरतम कृत्य है जो कोई किसी अत्यन्त निर्दोष के साथ कर सकता है। इसी तरह तुमने दो पक्षियों में से एक को मार दिया जो पूर्णतया निर्दोष थे और इस तरह की क्षति के पात्र नहीं थे, मैं तुम्हें तत्काल विनाश का शाप देता हूँ।''। शिकारी तत्काल भाप में बदल गया। (श्लोक का अंग्रेजी अनुवाद लेखक का नहीं है।)

न्यायधीशों ने ग्लेडिस स्टेन्स की वेदना क्यों नहीं सुनी, जिनके पति और बच्चों का कत्ल कर दिया गया था? दारा सिंह और सहयोगियों ने जो किया था, वह शिकारी के कृत्य से ज्यादा घिनौना था क्योंकि उसने चिड़ियों की सन्तानों को तो नहीं मारा था।

अब फैसले पर वापस आते हैं। यहाँ सवाल केवल सजा कम या अधिक करने और उन दर्जन-भर लोगों को माफ करने का नहीं है जिन्होंने अपराध को साथ मिलकर अंजाम दिया था। जो लोग अपनी समझ के अनुसार न्याय और समता में विश्वास करते हैं, उन्हें दहला देनेवाली बात इससे आगे भी है। इस फैसले में इतना ही पीड़ादायी एक अन्य वक्तव्य था- ''यह निर्विवादित है कि किसी की आस्था में ''बल प्रयोग से'' उत्तेजना पैदा करना, धर्मान्तरण करना और प्रेरित करना या गलत तथ्यों के आधार पर एक धर्म को दूसरे धर्म से बेहतर बताना उचित नहीं है।''

यह बिना किसी सबूत के ग्राहम स्टेन्स पर लाँछन लगाने के समान है। यह भारतीय परम्परा का अंग है कि किसी मृत व्यक्ति की बुराई नहीं करनी चाहिए क्योंकि ऐसा व्यक्ति खुद को सही ठहराने में असमर्थ होता है। न्यायाधीश इस प्राथमिक नियम को भी भूल गये। जब इस फैसले ने मानवाधिकारों, न्याय, समता और ईमानदारी में भरोसा रखनेवालों के बीच हलचल मचायी, तो न्यायधीशों ने फैसले में कुछ फेर-बदल की।

दो पैराग्राफों की जगह दो नये वाक्य रख दिये गये- ''हालाँकि इस अपराध को अंजाम दिये हुए 12 साल से ज्यादा वक्त गुजर चुका है। हमारी राय है कि पहले के पैराग्राफों में विवेचित तथ्यात्मक स्थिति की रोशनी में उच्च न्यायालय द्वारा दी गयी उम्र कैद की सजा को बढ़ाने की जरूरत नहीं है।''

दूसरा वाक्य-- ''किसी की धार्मिक आस्था में किन्हीं भी तरीकों से दखलन्दाजी करना उचित नहीं है।'' यह तर्क पूरी तरह दोषपूर्ण है। मुकदमों की सुनवाई में देरी होना सजा को कम करनेवाली शमनकारी परिस्थिति नहीं हो सकती, क्योंकि सजा अपराध की गम्भीरता पर निर्भर करती है। दूसरा वाक्य यह मानकर चलता है कि ग्राहम स्टेन्स ने ओडिशा के आदिवासियों की धार्मिक आस्था में दखल दिया था।

मेरी राय में विद्वान न्यायधीशों को वाधवा आयोग की रिर्पोट देखनी चाहिए थी, जिसने आस्ट्रेलियाई मिशनरी की हत्याओं की जाँच की थी। न्यायमूर्ति डी. पी. वाधवा सर्वोच्च न्यायालय के न्यायधीश थे। अटल बिहारी वाजपेयी सरकार ने हत्या की व्यापक भर्त्सना के बाद जाँच आयोग गठित किया था। हत्याओं की भयावहता को तत्कालीन राष्ट्रपति के. आर. नारायण से बेहतर किसी ने बयान नहीं किया। राष्ट्रपति ने कहा था- ''विश्व के घृणित कृत्यों की फेहरिस्त में से एक।'' उन्होंने यह भी कहा ''जो व्यक्ति कुष्ठ रोगियों की सेवा में सालों गुजारता है, उसे धन्यवाद देने और अनुकरणीय व्यक्ति की तरह सराहने के बजाय इस ढंग से मौत के घाट उतार देना मानवता की, सहिष्णुता की परम्पराओं से, जिनके लिए भारत जाना जाता है, एक अविस्मरणीय विचलन है।''

वाधवा आयोग की रिर्पोट जमा हो जाने के ठीक बाद, मीडिया हाउस के प्रकाशक जेवियर वडक्केकरा ने मुझे समीक्षा करने की गुजारिश के साथ रिर्पोट की प्रति भेजी। मैंने विस्तृत रिर्पोट पढ़ने पर कुछ रातें खर्च कीं और एक लेख लिखा, जिसका शीर्षक था- ''वधवा फैसला : बात का बतंगड़''।

देश में जब कभी ईसाईयों पर हमले होते हैं तो हमेशा धर्मान्तरण की झूठी अफवाह का सहारा लिया जाता है। ग्राहम स्टेन्स के मामले में न्यायमूर्ती वाधवा ने ऐसे आरोपों को बिल्कुल ही बेबुनियाद पाया। वास्तव में, रिर्पोट आस्ट्रेलियाई मिशनरी का एक शब्दचित्र प्रस्तुत करती है, जो किसी शान्तनु सत्पथी के साथ पत्र-मित्रता के चलते ओडिशा आये थे और कुष्ठ रोगियों के प्रति प्रेम में इतना डूब गये कि

उन्होंने अपना पूरा जीवन उनकी सेवा में समर्पित करने का निश्चय कर लिया।

स्टेन्स ने संविधान से हटकर कुछ नहीं किया। किसी धर्म को मानने और उपदेश देने का जो अधिकार विश्व हिन्दू परिषद, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन और अनगिनत हिन्दू व गैर हिन्दू संगठनों को है और जिसे सालों से वे व्यवहार में ला रहे हैं, वही अधिकार सबको है। जिस बात पर आपत्ति की जा सकती है वह है ''दबाव देकर धर्मान्तरण''। यह ऐसा आरोप है जो आज तक किसी भी ईसाई पर नहीं लगाया जा सका, साबित करने की तो बात ही क्या है।

न्यायमूर्ती वाधवा को भी उन इलाकों में जहाँ ग्राहम स्टेन्स कुष्ठ रोगियों की सेवा करते थे, ईसाईयों की संख्या में कोई असामान्य वृद्धि नहीं मिली।

वडक्केकरा को इसका श्रेय दिया जाना चाहिए कि वाधवा कमीशन की रिर्पोट-- एक समीक्षा पुस्तक रिर्पोट आने के एक माह के अन्दर ही प्रकाशित हो गयी। इसका सम्पादन मेरे दोस्त, सर्वोच्च न्यायालय के वकील डॉ. एम. पी. राजू ने किया था। जॉन दयाल, वॉल्सन थाम्पू, एस. पी. बनर्जी, वाल्टर फर्नानडिस और ए. जी. नूरानी मेरे सहयोगी थे। इस किताब का बड़ा आकर्षण यह भी था कि इसमें रिपोर्ट को पूरा का पूरा शामिल किया गया था।

अदालत में ग्राहम स्टेन्स पर लगाये गये आरोपों में से एक यह था कि उन्होंने आदिवासी महिलाओं के बीच सैनेटरी नेपकिन और चोली के इस्तेमाल को बढ़ावा देकर आदिवासी संस्कृति को नष्ट करने की कोशिश की। मैं ऐसा इसलिए लिख रहा हूँ, क्योंकि इस मुकदमें से सम्बन्धित न्यायाधीश पी. सदाशिवम अब केरल के राज्यपाल हैं। उन्हें केरल के कार्यकारी मुख्य न्यायधीश के पद से नवाजा गया। यह पहला मौका था कि भारत के पूर्व मुख्य न्यायाधीश, जो राष्ट्रपति को शपथ दिलाता है, उनको राज्यपाल की शपथ दिलायी गयी। अब वे भारत के राष्ट्रपति के मातहत होंगे।

ऐसी असंगतियों को छोड़ दें, तो भी उन्हें ऐसे पद के लिए क्यों चुना गया जिसकी योग्यता बहुत कम है-- ऐसा व्यक्ति जो 35 साल से ज्यादा उम्र का हो, लोकसभा, विधानसभा का सदस्य न हो और किसी लाभकारी व्यवसाय में न लगा हो।

यह आरोप लगाना अनुचित है कि उन्हें राज्यपाल का पद भाजपा अध्यक्ष अमित शाह के खिलाफ दर्ज फर्जी एनकाउन्टर के मुकदमें की एफआईआर निरस्त करने के एवज में मिला है। उस समय तो वे यह कल्पना भी नहीं कर सकते थे कि मोदी-शाह की जोड़ी भारत पर शासन करेगी।

यह भी सही है कि अगर एफआईआर निरस्त नहीं की जाती तो शाह, जो दूसरे मुकदमें में जमानत पर हैं, गिरफ्तार हो गये होते। जब कथित रूप से फर्जी एनकाउन्टरों की पूरी शृंखला आयोजित की गयी, उस समय शाह गुजरात के गृहमंत्री थे। अगर वह गिरफ्तार हो जाते तो मोदी उन्हें उत्तर प्रदेश नहीं भेज पाते, जहाँ उनके नेतृत्व में भाजपा ने 80 में से 71 सीटें जीतीं। यह तथ्य अपनी जगह है कि सदाशिवम के फैसले ने मोदी की अपनी महत्त्वाकांक्षा पूरी करने में मदद की।

जब सोहन राय ने 119 साल पुराने मल्लापेरियार बाँध से पैदा खतरों पर ''डैम 999'' फिल्म बनायी तो इसे मुख्यमंत्री जयललिता ने बिना किसी तुक या कारण के तमिलनाडू में प्रतिबन्धित कर दिया। जब प्रोड्यूसर ने इस फैसले को सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती दी तो इन्हीं पी. सदाशिवम की अध्यक्षता वाली खण्डपीठ ने प्रतिबन्ध को कायम रखा। सबसे बुरा तो यह कि अदालत ने अपने फैसले को इन शब्दों में न्यायोचित ठहराया-- ''हम राज्य की आपत्तियों से आँख नहीं मूंद सकते और केवल विशुद्ध न्यायिक पहलू के आधार पर ही किसी मामले में फैसला नहीं कर सकते। हमें लोगों की भावनाओं का सम्मान करना होता है।'' हालाँकि उन्होंने उन लोगों की भावनाओं को अनदेखा किया, जो लोग बह गये होते, अगर वह खतरनाक बाँध पानी रोक पाने में असमर्थ हो गया होता।

जो भी हो एक बात साफ है, जब फैसला देते वक्त सदाशिवम जैसे न्यायधीश मूलभूत कानूनों के बजाय ''लोगों की भावनाओं'' का सम्मान करना शुरू कर देंगे तो निश्चय ही उनका राज्यपाल और दूसरे उच्च पदों तक पहुँचना सुनिश्चित हो जायेगा। एक सीधे-साधे किसान के बेटे, तमिलनाडू में कावेरी के तट पर बसे गाँवों से आनेवाले सबसे पहले वकील जो अब केरल के 23वें राज्यपाल नियुक्त हुए हैं, उनसे निवर्तमान न्यायाधीश समुचित सबक ले सकते हैं। मैं आशा करता हूँ कि एक राज्यपाल के रूप में वे ''लोगों की भावनाओं'' के बजाय भारत के संविधान पर कायम रहेंगे।

**(अनुवाद- प्रवीण)**

## सूक्ष्म कथा : महामंत्री

जब सारे गुरुओं ने मुझे गंडा बाँधने से मना कर दिया तो झक मारकर मुझे मेरे पिता जी ने आचार्य प्रवर के गुरुकुल म. भेज दिया।

आखिर जीविका-आजीविका के लिए कोई योग्यता तो अर्जित करनी ही थी।

उनका गुरुकुल भीतर से अत्यन्त आलीशान और सर्व विलास सम्पन्न था यद्यपि बाहर से बेहद दरिद्र और तपस्वी दिखायी देता।

यहाँ तक कि हमारी कक्षाएँ खुले मैदान में जमीन में लगतीं।

पहले साल उन्होंने बकुल ध्यान और स्वांग के साथ थूककर चाटने की कला सिखायी।

दूसरे साल गिरगिट की तरह रंग बदलने और नीम को बबूल सिद्ध करने की कला म. दक्ष किया।

तीसरे साल कड़े अभ्ययास से खाल को गैंडे से भी मोटा बनाने और रंगा सियार बनकर गुर्राने में प्रवीण किया।

चौथा साल नूरा कुश्ती और घड़ियाली आँसू के नाम रहे।

अगले साल कम्बल ओढ़कर घी पीने और साबुत मछली नहीं मगरमच्छ निगल जाने की विद्या म. पारंगत किया।

पंचम वर्षीय शिक्षा के अन्त म. गुरु दक्षिणा स्वरूप बची-खुची अधमरी आत्मा को अपने चरणों म. डलवाकर आशिर्वाद दिया ...अब तुम राजनीति के लिए पूरी तरह तैयार हो। 'सफल भव'।

और देखिये आज म. चन्द्र लोक का महामंत्री हूँ।

**--हनुमंत शर्मा**

प्रतिरोध

# अमरीका के अश्वेत और भूरे निम्न वर्ग के खिलाफ युद्ध का विरोध

# अब हम और इंतजार नहीं कर सकते

**–रॉबिन डी. जी. केली**

**इंतजार करो।** धैर्य रखो। शान्त रहो। पहले अश्वेत राष्ट्रपति ने कहा-- "यह एक ऐसा देश है जो सभी को अपने विचार व्यक्त करने की छूट देता है, उन्हें उन कार्रवाईयों के खिलाफ विरोध प्रकट करने के लिए शान्तिपूर्वक प्रदर्शन की इजाजत देता है जिन्हें वे अन्यायपूर्ण समझते हैं।" गडबड़ी मत फैलाओ, अपनी बात रखो। न्याय किया जायेगा। हम कानून की इज्जत करते हैं। यह अमरीका है।

हम सभी ग्रांड जूरी (उच्च न्यायालय) के फैसले का इंतजार कर रहे थे, इसलिए नहीं कि हममें से अधिकांश लोग अभियोग सिद्ध होने की उम्मीद रखते थे। जिला अटार्नी रॉबर्ट पी. मेककुलोच का लच्छेदार वक्तव्य यह समझाते हुए (या उसका बचाव करते हुए) कि कैसे ग्रांड जूरी अपने निर्णय पर पहुँची, एक विजयी भाषण जैसा था। ग्रांड जूरी के लिए यहाँ तक कि अनजाने में हत्या का मामूली सा आरोप भी न तलाश पाना एक आश्चर्यजनक उपलब्धि थी, तब जबकि पुलिस गोलीबारी में एक निहत्था किशोर कई गज दूर हाथ उठाये खड़ा था। बीस मिनट से भी कम समय में 4799 पेज की कार्यवाही का निचोड़ निकालते हुए, ग्रांड जूरी ने चश्मदीद गवाहों की सत्यता पर ही सवाल खड़े कर दिये, चौबीस-घंटे चलनेवाले समाचारों और सोशल मीडिया पर जाँच-पड़ताल को बाधित करने का इल्जाम लगाया और आस-पड़ोस में होनेवाली कथित हिंसा को इस बात के लिए जिम्मेदार ठहराया कि क्यों माइक ब्राउन की लाश को फुटपाथ से उठाने के लिए सुबह तक का इतंजार करना पड़ा। जब मेककुलोच ने अपने जीवन में कभी किसी पुलिसकर्मी को दोषी नहीं ठहराया, तो अब हम उससे कुछ अलग करने कि उम्मीद भला क्यों करते?

कुछ लोग एक चमत्कार की उम्मीद कर रहे थे; ज्यादातर लोग इसलिए इंतजार कर रहे थे कि एक संकट उमड़-घुमड़ रहा था। सेंट लुईस और आसपास के इलाकों में, और मिसौरी राज्य में भी, गोरे लोगों ने इस प्रतीक्षा काल का इंतजार युद्ध की तैयारी के लिए किया। निवासियों ने और ज्यादा बन्दूकें और गोला-बारूद खरीदा, दुकानों की खिड़कियों को बचाने के लिए प्लाइवुड का जखीरा इकठ्ठा किया, अलार्म सिस्टम लगवाये और खिड़कियों पर पट्टियाँ लगायीं, खाने-पीने का सामान इकट्ठा किया। गवर्नर जे. निक्सन ने आपातकाल की घोषणा कर दी, राज्य-भर से नेशनल गार्ड सुरक्षाबलों को बुला लिया और साथ ही दंगा नियंत्रण और जवाबी कार्रवाई के लिए राज्य की नागरिक सेना को ट्रेनिंग दी गयी। संघीय सरकार ने एफबीआई एजेंटों को भेज दिया, अनुमान है कि उनमें से कुछ गुप्त रूप से विरोध आन्दोलनों में काम कर रहे थे। जब मैं यह लेख लिख रहा हूँ तब प्रदर्शनकारियों और खासकर अश्वेत-समुदाय के खिलाफ सभी ताकतों को तैनात कर दिया गया है और गवर्नर ने और ज्यादा नेशनल गार्डों की टुकडियाँ भेजने का अनुरोध किया है।

इसी बीच, जब हम ग्रांड जूरी के निर्णय का इंतजार कर रहे थे तो क्लीवलैंड में एक 12 साल के अश्वेत लड़के तामीर राइस को गोली मारी गयी क्योंकि एक अधिकारी ने गलती से उसकी खिलौना बन्दूक को असली समझ लिया था। तामीर क्लीवलैंड के कडेल रिक्रियेसन सेंटर के बाहर खेल रहा था, जो उन कुछ सार्वजनिक जगहों में से एक थी जो बच्चों के लिए सुरक्षित जगहें हैं।

जब हम इंतजार कर रहे थे, तभी क्लीवलैंड के पुलिसकर्मियों ने एक 37 साल की अश्वेत औरत तनिषा एण्डरसन की जान ले ली जो मानसिक विकार (बाईपोलर डिसओर्डर) से पीड़ित थी। जब उसके घरवालों ने एक मुश्किल हालात में मदद के लिए 911 नम्बर पर फोन किया, तो पुलिस उसके घर पहुँची, लेकिन उसके साथ हमदर्दी का व्यवहार करने के बजाय उन्होंने वही किया जिसकी उन्हें प्रतिक्षण दिया गया था, यानी एक अश्वेत मुहल्ले में अश्वेत लोगों का सामना कैसे करना चाहिए। उन्होंने उसके साथ एक दुश्मन लड़ाके की तरह बरताव किया। जब वह उत्तेजित हो गयी तो एक अफसर ने उसे जबरन जमीन पर गिरा दिया और हथकड़ी पहना दी जबकि दूसरे अफसर ने उसके चेहरे को जमीन से सटा दिया और अपने घुटनों से उसकी पीठ दबाकर उसे 6 से 7 मिनट तक दबाए रखा, जब तक उसका शरीर शिथिल नहीं पड़ गया। उसने साँस लेना बन्द कर दिया। उन्होंने साँस चालू करने की कृत्रिम विधि से उसकी साँस चालू करने का कोई प्रयास नहीं किया। परिवारवालों और गवाहों को बताया कि वह सो रही है। आखिरकार 20 मिनट बाद जब एम्बुलेंस वहाँ पहुँची तो वह मर चुकी थी।

जब हम इंतजार कर रहे थे, तभी एन हार्बर, मिशिगन में पुलिस ने चालीस साल की एक अश्वेत औरत अयुरा रेन रोसर की हत्या कर दी। खबरों के अनुसार जब पुलिसकर्मी एक घरेलू हिंसा की शिकायत पर वहाँ पहुँचे तो वह हाथ में सब्जी काटनेवाला एक चाकू घुमा रही थी, हालाँकि उसके जिस पुरुष मित्र ने इस घटना की सूचना दी थी, उसने इस बात पर जोर दिया कि उससे पुलिसकर्मियों कोई खतरा नहीं है। इस बात से उनपर कोई फर्क नहीं पड़ा, उन्होंने गोली चला दी।

जब हम इंतजार कर रहे थे, तभी शिकागो के पुलिस अधिकारी ने 19 साल के रोशाद मेकिनटोश को गोलियों से गम्भीर रूप से घायल कर दिया। अधिकारी के दावों के

बावजूद, कई चश्मदीद गवाहों ने बयान दिया कि मेकिनटोश निहत्था था, अपने हाथ ऊपर करके घुटनों के बल बैठा था और वह उस अधिकारी से गोली न चलाने की प्रार्थना कर रहा था।

जब हम इंतजार कर रहे थे, तभी साराटोगा स्प्रिंग्स, उटाह में पुलिस ने एक 22 साल के अश्वेत नौजवान डेरन हंट के शरीर में छह गोलियाँ उतार दीं, जो एक निंजा लड़ाके की तरह के कपड़े पहने हुए था और एक नकली समुराई तलवार लिये हुए था। इसी बीच विक्टरविले, कैलीफोर्निया में पुलिस ने 36 साल के एक अश्वेत आदमी और पाँच बच्चों के पिता दांते पार्कर को मार दिया। उसे एक चोरी के सन्देह में रोका गया, जब वह अपनी मोटरसाइकल पर जा रहा था। जब उसने "सहयोग करना" बन्द कर दिया तो अधिकारियों ने उसे काबू में करने के लिए बार-बार उस पर टेसर (बिजली के झटके देनेवाला एक हथियार) का इस्तेमाल किया। उन जख्मों की वजह से वह मर गया।

जब हम इंतजार कर रहे थे, तभी अठाईस साल के एक अश्वेत अकाई गरली का भी यही हाल हुआ जब वह ईस्ट न्यूयॉर्क, ब्रुकलीन में लुईस एच. पिंक हाउसेस में सीढ़ियों से नीचे उतर रहा था। पुलिस उस आवासीय परियोजना में टोह लेने की एक ठेठ मुहीम पर गयी थी। ऑफिसर पीटर लिआंग एक हाथ में बन्दूक और दूसरे हाथ में टार्च लेकर अँधेरी सीढ़ियों की तरफ बढ़ा। वह अपने सामने आनेवाले खतरे से निपटने के लिए मुस्तैद था। उदार मेयर बिल डीब्लासियो और पुलिस चीफ बिल ब्रांटन के अनुसार, गरली की मौत एक आनुसांगिक क्षति है। भरपूर क्षमा याचनाएँ की गयीं। गरली अपने पीछे एक दो साल की बेटी छोड़ गया।

जब हम इंतजार कर रहे थे, तभी एलऐपीडी (लॉस एंजेल्स पुलिस डिपार्टमेंट) अधिकारियों ने 25 साल के एक मानसिक रूप से बीमार अश्वेत, इजेल फोर्ड को उसके अपने पड़ोस के दक्षिण लॉस एंजेल्स में रोका और गोली मार दी। एलऐपीडी ने लॉस एंजेल्स में रहनेवाले 37 साल के पिता ओमर अब्रेगो को रोका, और उसे पीट-पीटकर मार डाला।

जब हम इंतजार कर रहे थे और लगातार इंतजार कर रहे थे, तभी डैरेन विल्सन (माइक ब्राउन का हत्यारोपी पुलिसकर्मी) ने शादी कर ली, वह प्रशासनिक छुट्टी पर रहते हुए अपनी तनख्वाह भी लेता रहा और उसने अपने "बचाव" के नाम पर 4 लाख डॉलर से ज्यादा का चंदा भी हासिल कर लिया।

आप देख सकते हैं कि हम दर्जनों, सैकड़ों, हजारों अभियोगों और फैसलों का इंतजार कर रहे हैं। हर मौत कष्ट देती है। हर दोषमुक्त पुलिसकर्मी, सुरक्षाकर्मी और निगरानीकर्मी मन में आक्रोश पैदा करता है। ग्रांड जूरी के निर्णय ने ज्यादातर अश्वेतों को हैरान नहीं किया क्योंकि हम सजा सुनाये जाने का इंतजार नहीं कर रहे थे। हम न्याय का इंतजार कर रहे थे या ज्यादा सटीक तरीके से कहें, तो न्याय के लिए संघर्ष कर रहे थे। हम सभी नामों को जानते हैं और जानते हैं कि वे कैसे मरे। एरिक गार्नर, काजेमे पावेल, वोनडेरिट डी. मेयर्स जूनियर, जॉन क्राफोर्ड तृतीय, कैरी बाल जूनियर, माइक ब्राउन-- नामों की सूची अन्तहीन है। वे निहत्थे थे और उन्हें ऐसे हालात में गोली मार दी गयी जहाँ जानलेवा हमला जरूरी नहीं था। हम बार-बार आनेवाले दुस्वप्न की तरह उनके नामों को उठाये फिरते हैं, मुर्दों को घिनौने बेसबाल कार्डों की तरह एकत्रित करते हैं। कुछ नहीं भूलते। सिर्फ मुर्दा शरीरों का ढेर है जो हमारी पलक झपकते ही बढ़ जाता है। पिछली तीन पीढ़ियों के लिए, एलेनोर बम्पर्स, माइकल स्टीवर्ट, इयुला लव, अमादु डियालो, ऑस्कर ग्रांट, पेट्रिक डोरिसमंड, मेलिस ग्रीन, टाईशा मिलर, सीन बेल, आईअना स्टेनली-जोंस, मार्गरेट लावर्ने मिशेल इत्यादि, उनमें से कुछ नाम हैं जो नस्ली पुलिस हिंसा के प्रतीक हैं। और मैं सिर्फ मरे हुए लोगों की बात कर रहा हूँ उनकी नहीं जिन्हें परेशान किया गया, पीटा गया, अपमानित किया गया, रोककर जिनकी तलाशी ली गयी और जिनके साथ बलात्कार किया गया।

इसी बीच गवर्नर जे निक्सन, राष्ट्रपति ओबामा, अटार्नी जनरल एरिक होल्डर, मुख्यधारा की प्रेस और राज्य से पुरस्कृत हर अफ्रिकी-अमरीकी नेता अश्वेतों को शान्त रहने और अहिंसक बने रहने का उपदेश देते हैं, जबकि हिंसा का मुख्य कारण पुलिस है। माइक ब्राउन के कत्ल ने लोगों को सड़क पर ला दिया, जहाँ उनका सामना आँसू गैस और रबड़ की गोलियों से हुआ। एक ऐसी दुनिया में राष्ट्र द्वारा की जानेवाली हिंसा हमेशा ही अदृश्य बनी रहती है जहाँ पुलिस और सैनिक हीरो होते हैं और वे जो कुछ भी जो करते हैं उसे हमेशा ही "सुरक्षा," संरक्षण और आत्मरक्षा के तौर पर दिखाया जाता है। पुलिस बेकाबू (अश्वेत) अपराधियों से नागरिकों की रक्षा करने और उनकी सेवा करने के लिए सड़कों पर उतरती है। इसलिए, हर बार पर पीड़ित को आक्रमणकारी दर्शाने का प्रयास किया जाता है। ट्रेवन मार्टिन ने फुटपाथ को एक हथियार के तौर पर इस्तेमाल किया और माइक ब्राउन ने अपने भारीभरकम शरीर को। एक अश्वेत आदमी के द्वारा आगे की तरफ लपकने या घूरने को एक आसन्न धमकी समझा जा सकता है। जब 9 अगस्त को माइक ब्राउन के कत्ल के बाद फर्गुसन के उपनगर भड़क उठे तब मीडिया और मुख्यधारा के नेता लूटपाट रोकने और "शान्ति" बनाये रखने के लिए ज्यादा चिंतित थे, बजाय इस तथ्य पर ध्यान दिये कि डैरेन विल्सन अपना वेतन प्राप्त करते हुए छुट्टी पर आजाद था। या इस बात के लिए कि खून से सने, मौत की वजह से अकड़ते, गोलियों से बिंधे, माइक ब्राउन के प्राणहीन शरीर का साढ़े चार घंटे तक पड़े रहना चौथे जेनेवा संधिपत्र का उल्लंघन किये जाने के कारण एक युद्ध अपराध है। आखिर यह एक सामुहिक सजा की कार्यवाही थी-- एक उत्पीड़ित लाश के सार्वजनिक प्रदर्शन का मकसद एक पूरे समुदाय को आतंकित करना था, हर किसी को अधीन करके दंडित करना था, बाकी लोगों को उनका अंजाम याद दिलाना था, अगर वे ठीक से व्यवहार नहीं करते हैं। हम इसे "गैरकानूनी ढंग से सजा देना" कहा करते थे।

युद्ध? हाँ, युद्ध। माइक ब्राउन के कत्ल के बाद पुलिस के खिलाफ तत्कालीन और अनवरत संघर्ष राज्य और अश्वेतों के बीच के एक कम तीव्रता के युद्ध को प्रकट करता है, और ग्रांड जूरी के निर्णय के पश्चात प्रदर्शनकारियों पर किये गये असंगत बल प्रयोग ने संघर्ष को और भड़का दिया। पूरी दुनिया को फर्गुसन एक युद्ध क्षेत्र जैसा दिखाई दिया क्योंकि पुलिस अपने हेलमेटों, सुरक्षा जैकेटों, निजी हथियारों और एम-16 राइफलों के साथ सेना जैसी लगी। लेकिन फर्गुसन और सेंट

लुइस में, और देश-भर की गरीब बस्तियों में, रहनेवाले अफ्रीकी-अमरीकी नागरिकों को यह जानने के लिए आँसू गैस या चेहरे छुपाकर दंगा पुलिसकर्मियों को सहन करने की जरूरत नहीं थी क्योंकि वे पहले से ही एक युद्ध क्षेत्र में रह रहे हैं पुलिस के प्रति माइक ब्राउन और डोरियन जोहनसन की शुरुआती घबराहट की वजह यही थी।

इस इलाके में अतीत और वर्तमान की पुलिस हिंसा ही ब्राउन और जोहनसन के विल्सन से डरने की असली वजह है। अभियोग पक्ष ने हत्या की इस वारदात को एक अठारह साल के भौचक्के और क्रोधित लड़के से खुद को बचने के लिए "एक कानूनी अधिकारी द्वारा हमले से पहले" अपनी आत्मरक्षा की कार्रवाई के रूप में, एक तर्कसंगत मामला बना कर पेश किया। विल्सन को अपनी जान का डर था, सिर्फ इतनी-सी बात उसके द्वारा किये गये जानलेवा हमले को जायज ठहराने के लिए काफी था। लेकिन वह तीन महीने लम्बे चलनेवाले विचार-विमर्श के अन्त में ग्रांड जूरी को दिये जानेवाले निर्देश थे, जिन पर हमें ध्यान देने की जरूरत है। जूरी के सदस्यों से यह कहने के बाद कि वे विल्सन की कार्रवाई को पुलिस द्वारा जानलेवा हमले पर मिसौरी अधिनियम के अनुसार फैसला करें, सहायक जिला प्रोसिक्यूटर, शीला विरली और काठी अलीजदेह ने अचानक घोषणा की कि "रिसर्च करने" पर उन्होंने पाया कि अमरीकी उच्चतम न्यायालय ने अधिनियम को हटा दिया है। निर्णय और पुराने अधिनियम के स्थान पर, विरली ने इस बात का वर्णन लिखा कि जब कोई अधिकारी गिरफ्तारी करने के लिए बलप्रयोग करता है तो उस पर यह कानून कैसे लागू होता है। जब ग्रांड जूरी के एक सदस्य ने स्पष्टीकरण के लिए सवाल पूछने शुरू किये तो विरली ने समझाया कि पुराना कानून "पूरी तरह गलत या त्रुटीपूर्ण नहीं है, लेकिन कुछ ऐसा है जो ठीक नहीं है, इसलिए उसे पूरी तरह नजरअंदाज कर दें।" उसके बाद उसने संकेत दिया कि हम अमरीकी उच्चतम न्यायालय के टेनेसी बनाम गार्नर (1985) निर्णय पर निर्भर रहेंगे, "ऐसा नहीं है कि यह आपके लिए बहुत ज्यादा महत्त्वपूर्ण है।... हम कानून की क्लास शुरू नहीं करना चाहते।" उसके बाद उसने आत्मरक्षा निर्देश पर ध्यान दिलाना शुरू कर दिया।

लेकिन निर्णय पर जल्दी से एक नजर डाल लेने से स्पष्ट हो जाता है कि इस आदेश का उद्देश्य जानलेवा हमले के इस्तेमाल को सीमित करना था, यह तर्क देते हुए कि एक भागते हुए संदिग्ध व्यक्ति को मारना एक अनुचित "हमला" है जो सम्भवतः जीने से वंचित करने के खिलाफ बने चौथे संशोधन का उल्लंघन है। अगर एक संदिग्ध व्यक्ति हथियारबन्द और खतरनाक नहीं है तो उस पर जानलेवा हमला करना न्यायसंगत नहीं है और इसलिए उसके जीवन पर हमला तर्कसंगत नहीं है।

चाहे इसे हम नशीली दवाओं के खिलाफ युद्ध कहें, या "ऑपरेशन घेटो स्टोर्म" कहें या माल्कॉम एक्स के शब्दों में ग्रासरूट मूवमेंट कहें, हम जिस चीज का सामना कर रहे हैं वह राज्य और उसके निजी सहयोगियों के द्वारा खासकर गरीबों और अधिकारहीन अश्वेत और भूरे मजदूर वर्ग के खिलाफ चलाये जा रहे स्थायी युद्ध से किसी भी तरह कम नहीं है। पाँच सदियों के दौरान, यह गुलामी और साम्राज्यवाद से लेकर विराट व्यवस्थागत अपराधीकरण तक फैला हुआ है। हम अपने बच्चों पर इसका प्रभाव देखते हैं, और कानून में इसका प्रभाव देखते हैं, जिसके तहत आसानी से किशोरों पर व्यस्कों की तरह अभियोग चलाये जाते हैं; जीरो टोलरेंस नीतियों की बाढ़ में इसका प्रभाव देखते हैं (जो एक बार फिर नशीली दवाओं के खिलाफ युद्ध का सह-उत्पाद है); इस चौंका देनेवाले तथ्य में देखते हैं कि हिंसक अपराधों में उल्लेखनीय कमी के बावजूद निष्कासन और निलम्बन में कई गुणा बढ़ोत्तरी हुई है। अपराध, नैतिक घबड़ाहट, नवउदारवादी नीतियाँ और नस्लवाद मानवीय प्रबन्धन पर आधारित जेल में कैद करने, निगरानी, रोकथाम, दमन, जानलेवा कब्जे और भारी गलतबयानी की खर्चीली व्यवस्था की आग में पेट्रोल डालने का काम करते हैं।

फर्गुसन के अश्वेत समुदाय और उसके आसपास के समुदाय नियमित रूप से अन्य दूसरी चीजों के अतिरिक्त पुलिस द्वारा रोके जाने में, ध्वनि अध्यादेश के उल्लंघन (जैसे कि तेज आवाज में संगीत सुनना) के लिए, सेंट लुईस रेलों में चलती रेल में चढ़ने, घास न कटी होने या घर गन्दा होने पर, अनाधिकार प्रवेश पर, "झोलदार पैंट" पहनने पर, ड्राइविंग लाइसेंस या पंजीकरण समाप्त हो जाने पर, "शान्ति भंग करने" पर लगाये गये जुर्माने में हर दिन इस युद्ध का अनुभव करते हैं। यदि ये जुर्माने अदा नहीं किये जाते तो इससे जेल जाना पड़ सकता है, अपनी कार या सम्पत्ति को गँवाना पड़ सकता है, या सामाजिक सेवा के लिए अपने बच्चों को खोना पड़ सकता है। अपराधिक न्याय व्यवस्था गरीब और मजदूर अश्वेतों से सजा और शुल्क के माध्यम से एक तरह का नस्ली कर वसूलती है। 2013 में, फर्गुसन के नगरपालिका न्यायालय ने 21,000 से कुछ ही ज्यादा लोगों को लगभग 33,000 गिरफ्तारी वारंट जारी किये, जिससे नगरपालिका को लगभग 26 लाख डॉलर प्राप्त हुए। इसी साल, फर्गुसन में तलाशी के 92 प्रतिशत और यातायात उल्लंघन रोकने के 86 प्रतिशत मामलों में अश्वेत शामिल थे, इस तथ्य के बावजूद कि हर तीन में से एक गोरा आदमी गैरकानूनी हथियार या नशीली दवाओं के साथ पाया गया, जबकि हर पाँच में से सिर्फ एक अश्वेत नियम विरुद्ध था।

फिर भी, यथास्थिति के समर्थक हमेशा ही राज्य हिंसा के आलोचकों को कम आयवाले अश्वेत समुदायों में होनेवाली आपसी नस्ली हत्याओं की संख्या का हवाला देकर भटकाने की कोशिश करते हैं। न्यूयॉर्क के भूतपूर्व मेयर रूडी गुलियानी के हालिया शातिराना ताने को कौन भूल सकता है जो उन्होंने माइकल एरिक डाइसन के "प्रेस से मिलें" कार्यक्रम में किया-- "गोरे पुलिस अधिकारी वहाँ (अश्वेतों के इलाकों में) नहीं होते अगर आप एक-दूसरे को नहीं मार रहे होते।" निश्चित रूप से यह एक नस्लवादी शेखी है, लेकिन इस तरह के कथन इस बात की गहन पूछताछ को रोकने में सफल हो जाते हैं कि कैसे नवउदारवादी नीतियाँ (जैसे कल्याणकारी राज्य का विखंडन, पूँजी के पलायन को प्रोत्साहित करना, सार्वजनिक स्कूलों, अस्पतालों, घरों, पारगमन और दूसरे सार्वजनिक संसाधनों का निजीकरण, पुलिस और जेलों में पूँजी निवेश, इत्यादि) एक तरह की राजकीय हिंसा है जो अभावग्रस्तता, पर्यावरण और स्वास्थ्य संकट, गरीबी तथा हिंसा और दमन पर आधारित वैकल्पिक (गैरकानूनी) अर्थव्यवस्था को जन्म देती है।

गुलियानी के व्यंग्यात्मक अपशब्द

आधुनिक कानून व्यवस्था की असफलता का एक दमदार मामला है। अगर पुलिस की जिम्मेदारी शान्ति बनाये रखना और नागरिकों की रक्षा करना है, लेकिन इसके बजाय वे हिंसक मौतों की "महामारी" फैलाने में योगदान करती है, तो यह अश्वेतों और भूरे लोगों के इलाकों से पुलिस को पूरी तरह हटा लेने का मामला बनता है। पुलिस को लड़ाई का प्रशिक्षण दिया जाता है और पुलिसकर्मी अक्सर कम आयवाले नस्ली समुदायों के युवाओं को सम्भावित शत्रु समझते हैं। इसलिए अँधेरी सीढ़ियों में एक "बेगुनाह" काले आदमी का, सब्जी काटनेवाला चाकू लिये एक अश्वेत महिला का, या खिलौना बन्दूक से खेलते हुए छोटे बच्चों का कत्ल कोई दुर्घटना नहीं है। पुलिसकर्मी इन इलाकों में हाथ में हथियार लेकर गश्त करते हैं, उन्हें हर छाया के पीछे एक संदिग्ध छिपा हुआ दिखाई देता है और युद्ध में या तो मरना होता है या मारना होता है।

डैरेन विल्सन को माइक ब्राउन के कत्ल से सजा न सुनाये जाने की रोशनी में, उन लोगों के द्वारा जो राजकीय हिंसा से आतंकित है और विशेष तौर पर अपनी सुरक्षा को लेकर खतरा महसूस करते हैं, मिसौरी में पुलिस को हटा लेने का आह्वान-- अस्थायी तौर पर ही सही-- एक वाजिब माँग है। वे कानून और व्यवस्था चाहते हैं, लेकिन पुलिस ने लगातार कानून का अनादर किया है और लगभग बिना किसी जवाबदेही के कार्यवाही की है। पुलिस ने एक अनियंत्रित संगठन की तरह काम किया, उनकी कार्यवाही ने अव्यवस्था और भय पैदा किया। इसके अतिरिक्त, प्रभावी रूप से अभियोग न लगने से पुलिस फोर्स निर्दोष साबित हो जाती है, जिससे अश्वेतों के जीवन की रक्षा करने और न्याय दिलवाने में सरकार की असफलता से उपजे क्रोध और निराशा की कानूनी अभिव्यक्ति का जवाब देते वक्त पुलिस को हिंसा और दमन का और ज्यादा इस्तेमाल करने का बहाना मिल जाता है। पहले ही ग्रांड जूरी के निर्णय के परिणामस्वरूप ऐसा हो रहा है, जब दंगा पुलिस 'हेंड्स अप यूनाईटेड' और उसके साथ-साथ दूसरे सुरक्षित स्थानों पर धावा बोल रही है।

हेंड्स अप यूनाईटेड, लॉस्ट वॉइसेज, ऑर्गनाइजेशन फॉर ब्लैक स्ट्रगल, डोंट शूट कोलिशन, मिलेनियल एक्टिविस्ट यूनाईटेड, और उनके जैसे दूसरे संगठनों के युवा संगठनकर्ता समझते हैं कि वे युद्ध की स्थिति में हैं। टेफपो, टोरी रसेल, मोंटेग्यु सिमंस, चेयेने ग्रीन, एश्ले येट्स, और सेंट लुईस इलाके के अनेकों दूसरे युवा अश्वेत कार्यकर्ता अभियोग का इंतजार नहीं कर रहे हैं। न ही वे दिखावटी संघीय जाँच का इंतजार नहीं कर रहे हैं, उन्हें उस संघीय सरकार के बारे में कोई भ्रम नहीं है जो स्थानीय पुलिस को सैन्य साजोसामान प्रदान करती है, जेलें बनाती है, जो बिना किसी कानूनी प्रक्रिया के हजारों लोगों को चालकों और चालकरहित जहाजों से मारती है, और जो इजराइल को उसके गैरकानूनी युद्ध और कब्जे के लिए हथियारबन्द करती है। वे संगठित हो रहे हैं। साथ ही शिकागो के वे सक्रिय कार्यकर्ता भी संगठित हो रहे हैं जिन्होंने वी चार्ज जेनोसाइड और ब्लैक यूथ प्रोजेक्ट की स्थापना की, और लॉस एंजेल्स के युवा जिन्होंने कम्युनिटी राइट्स कैम्पेन बनाया, और देश-भर के सैकड़ों ऐसे संगठन जो प्रतिदिन राजकीय हिंसा और कब्जे को चुनौती दे रहे हैं। वे हमें याद दिलाते हैं कि न सिर्फ अश्वेतों का जीवन महत्त्वपूर्ण है (यह तो स्पष्ट ही है), बल्कि यह कि प्रतिरोध का अपना महत्त्व है। इसका महत्त्व है, क्योंकि हम अभी भी अधिवासी उपनिवेशवाद, नस्ली पूँजीवाद और पितृसत्ता के परिणामों के साथ संघर्षरत हैं। कैटरिना के बाद के न्यू ओरलियंस में इसका महत्त्व था जो कामकाजी लोगों पर नवउदारवाद के निरंतर चलनेवाले युद्ध की एक मुख्य रणभूमि है और जहाँ अश्वेत संगठनकर्ता बहुनस्ली गठबन्धनों का नेतृत्व करते हुए स्कूलों, अस्पतालों, सार्वजनिक पारगमन और सार्वजनिक घरों के निजीकरण तथा सार्वजनिक क्षेत्र की यूनियनों को खंडित करने का विरोध कर रहे हैं। फर्गुसन के युवा प्रचंडता के साथ अपना संघर्ष जारी रखे हुए हैं, सिर्फ माइक ब्राउन के लिए न्याय पाने और पुलिस दुर्व्यवहार को खत्म करने के लिए ही नहीं बल्कि वे नस्लवाद को हमेशा के लिए खत्म कर देने के लिए, साम्राज्य का अन्त करने के लिए और अन्ततः युद्ध को खत्म करने के लिए संघर्ष कर रहे हैं।

**(काउन्टरपंच डॉट कॉम से साभार। अनुवाद- दिनेश पोसवाल)**

## एक ही दवा की कीमत में 32 गुने का अन्तर

**गुर्दा के कैंसर** की एक दवा है- नेक्सावार, जिसका पेटेन्ट लाइसेन्स बहुराष्ट्रीय कम्पनी 'बायर' के पास है। यहाँ इस दवा को नैटको कम्पनी जेनरिक दवा के रूप में बनाती और बेचती है। विदेशी कम्पनियाँ भारत म. किस तरह की लूट मचा रही हैं, इसका प्रमाण यह है कि इस दवा की 120 गोली नैटको 8,880 रूपए में बेचती है, जबकि बायर उसकी कीमत 2,84,000 रुपये वसूलती है। यानी बत्तीस गुने का अन्तर।

नैटको के पास इस दवा को बनाने और बेचने का अनिवार्य लाइसेन्स है, जिसे रद्द कराने और इस पर अपना एकाधिकार हासिल करने के लिए बायर कम्पनी काफी समय से कानूनी लड़ाई लड़ रही थी। यह मुकदमा सर्वोच्च न्यायालय में था। इसके फैसले पर हजारों लोगों की जिन्दगी और मौत टिकी हुई थी, क्योंकि बायर ने दवा की जो कीमत रखी है, वह इस देश के धनाढ्यों की जेब से भी भारी है। नैटको को अनिवार्य लाइसेंस भी इसी कारण से मिला हुआ है कि बायर कम्पनी की दवा लोग खरीद ही नहीं पाते थे।

बहरहाल, सर्वोच्च न्यायालय ने फैसला जेनरिक दवा बनानेवाली नैटको कम्पनी के पक्ष में दिया है। आशंका यह भी है कि बायर कम्पनी अब कोई और दाँव आजमायेगी। आखिर बहुराष्ट्रीय पूँजी का मामला है और हर कीमत पर विदेशी पूँजी को रिझानेवाली देशभक्ति की बयार बह रही है।

वैसे तो गरीबों के लिए तो 8,880 रुपये की दवा खरीद पाना भी उनकी औकात से बाहर है, फिर भी यह राहत देनेवाला फैसला है।

हमारे देश में पहले उत्पाद पेटेंट की जगह प्रक्रिया पेटेंट का प्रावधान था। इसके चलते यहाँ किसी अन्य प्रक्रिया से दवा बनाने पर शोध होता था और उस दवा की कीमत बहुत ही कम होती थी। विश्व व्यापार संगठन में शामिल होने के साथ ही भारत म. अमरीकी दबाव में पेटेंट कानून बदल दिया गया। तभी से बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की मनमानी बढ़ी है। साथ ही सरकार भी उन पर मेहरबान है और उनके मुनाफे को बढ़ाने में पूरा सहयोग करती है। इसकी भारी कीमत आम जनता को चुकानी पड़ रही है। अगर साम्राज्यवाद के आगे घुटने टेककर हमारे शासकों ने पेटेंट कानून नहीं बदला होता तो हमें यह दिन नहीं देखना पड़ता।

# आलमी जेहाद और अमरीका

**–स्टेनली जॉन्स**

***आप हमेशा इस*** *बात पर पूरी तरह भरोसा कर सकते हैं कि अमरीकी सही काम करेगें, जब वे दूसरे सभी तरीके आजमा कर थक लेंगे।*

*-विन्स्टल चर्चिल*

इराक युद्ध शुरू होने के एक महीने से कुछ दिनों बाद 1 मई 2003 को अमरीकी राष्ट्रपति जार्ज डब्लू बुश खाड़ी के विजय अभियान से वापस आये, सेन डियागो तट पर खड़े यूएसएस अब्राहम लिंकन विमानवाहक पोत के डेक पर लौकहीड एस-3 वईकिंग विमान से फिल्मी अंदाज में वायु सेना की पोशाक में उतरे। राष्ट्रपति ने पाईलट और अन्य कर्मचारियों के साथ फोटो भी खिंचवाया। कुछ घंटों बाद उन्होंने इराक में मुख्य लड़ाई खत्म होने की घोषणा की। उन्होंने विमान वाहक पोत के डेक से कहा 'इस युद्ध में हम मुक्ति के उद्देश्य और दुनिया की शान्ति के लिए लड़े हैं। इस मुश्किल काम को पूरा करने पर हमारे राष्ट्र और हमारे सैन्य सहयोगियों को गर्व है। हालाँकि ये आप ही हैं, अमरीकी सेना के सदस्य, जिन्होंने इसे हासिल किया है उनके ऊपर लहराते युद्ध पोत के झण्डे पर लिखा था-- ''मिशन पूरा हुआ।''

अगला दृश्य : 10 सितम्बर 2014 को अमरीका के वर्तमान राष्ट्रपति बराक ओबामा टीवी पर सम्बोधित करते हुए कहते हैं-- ''मेरे अमरीकी साथियो, आज की रात मैं आप से कहना चाहता हूँ कि अमरीका अपने दोस्तों और सहयोगियों के साथ मिलकर आतंकी संगठन आईएसआईएस को कमजोर करने और अन्ततः खत्म करने के लिए क्या करेगा।'' ओबामा आईएस (इस्लामिक स्टेट ऑफ इराक एण्ड लेवेंट) पर हवाई हमला करने के लिए इराक में अपने बमवर्षक भेजने के निर्णय की घोषणा कर रहे थे। इस तरह वे इराक पर हमला करनेवाले लगातार चौथे राष्ट्रपति बन गये। इन दोनों राष्ट्रपतियों के बयान हमें इराक की वर्तमान स्थिति को बताते हैं। बुश ने 'मिशन' कभी पूरा नहीं किया। हालाँकि आधुनिक इराक की तबाही उस राष्ट्र की परेशानियों की शुरुआत-भर है, जिसमें सुन्नी आतंकवाद भी शामिल है। ओबामा आक्रमणकारी विरासत को आगे बड़ा रहे हैं। बावजूद इसके कि इन आक्रमणों ने जो चेतावनियाँ दी हैं और जो इतिहास रचा है, वह विनाशकारी है।

आज इराक अपने अस्तित्व को बचाने के लिए आईएस के आतंकियों से बगदाद शहर में लड़ाई लड़ रहा है-- इराक का उत्तर-पश्चमी हिस्सा, जिसमें देश का दूसरा सबसे बड़ा शहर मोशुल भी शामिल है, उनके कब्जे में आ चुका है। इराक की शिया प्रभुत्ववाली सरकार की संकीर्ण नीतियों ने देश में सुन्नियों के बड़े हिस्से को सरकार से बाहर खदेड़ दिया। सेना भी मानो आईएस के कठोर हमलों से पार पाने का हौसला खो चुकी है और जवाबी हमले मुख्यतः ईरान सरकार के समर्थन से शिया आतंकियों द्वारा ही किये जा रहे हैं। ये असफल सरकार की ठेठ मिसाल है। सबसे बुरी दशा यह कि आज की वैश्विक व्यवस्था में बहुत सारे इराक हैं-- अफगानिस्तान, सीरिया, लीबिया, माली और सूडान की हालत भी इराक जैसी ही है। इन सभी देशों में कम से कम दो बातें समान हैं– इस्लामिक आतंकवाद और अतीत या वर्तमान में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष पश्चिमी सैनिक दखलंदाजी। इसका अन्तिम परिणाम है-- राष्ट्र राज्य का पतन या दुर्बलता और लाखों लोगों का अन्तहीन बदहाली में धकेल दिया जाना। समस्या के दो आयाम हैं जबकि मुख्याधारा का विश्लेषण आम तौर पर इस्लामवाद से ग्रसित है।

ताज हाशमी की किताब ''ग्लोबल जेहाद एण्ड अमेरिका'' घिसेपिटे विश्लेषण के ऐसे तरीकों को चुनौती देती है और समस्या को बड़े परिप्रेक्ष्य में समझने की कोशिश कराती है। आस्टिन पिए यूनिवर्सिटी, टेनीसी में प्रतिरक्षा अध्ययन के अध्यापक हाशमी कई सवाल खड़े करते हैं, जैसे-- शीतयुद्ध के बाद दुनिया में ऐसा क्या बदलाव आया कि मुसलमान और पश्चिमी दुनिया एक-दूसरे के दुश्मन हो गये? क्या वैश्विक शान्ति के लिए आलमी जेहाद सबसे बड़ा खतरा है? वे इसी तरह के और भी सवाल उठाते हैं। उनके ही शब्दों में, यह किताब ''अमरीका (और उसके सहयोगियों) तथा मुस्लिम देशों में उनके दुश्मनों के बीच लाजिमी लगानेवाली लड़ाइयों के विनाशकारी प्रभावों की दास्तान सुनाती है, जो पिछले सौ सालों से जारी है और जिसमें मुस्लिम देशों के गैर मुस्लिम लोग भी अमरीका का साथ देते हैं। वे लिखते हैं कि ''1948 का प्रथम अरब-इजराइल युद्ध इस्लामी दुनिया और अमरीका के बीच 100 साला युद्ध तथा शीत युद्ध के बाद इराक, अफगानिस्तान और लीबिया जैसे देशों पर पश्चिमी देशों के आक्रमण की शुरुआत थी। इसका दायरा सीरिया और ईरान में हस्तक्षेप की धमकी के बाद बढ़ा दिया गया है।

## अमरीका का विशिष्टतावाद

क्या आलमी जेहाद मानव सभ्यता के लिए सबसे बड़ा खतरा है? हाशमी बताते हैं की आलमी जेहाद एक ''मिथक'' है, जिसका अस्तित्व केवल इस्लामिक कट्टरपंथियों, अज्ञानी लोगों की कल्पनाओं और सबसे बढ़कर इस्लामभीरु लोगों की शब्दावली में ही है। यह अमरीका और उसके सहयोगियों द्वारा अपने वर्चस्व और उसके लिए युद्ध जारी रखने की कारगुजारी है, जिसने वैश्विक स्तर पर इस्लामिक

आतंकवाद और विद्रोह की स्थिति पैदा की है। अमरीका के हथियार उद्योग के ढाँचे को टिकाये रखने के लिए युद्ध जरूरी है। इसीलिए उसे हमेशा किसी न किसी वैश्विक दुश्मन की जरूरत होती है। शीत युद्ध के समय यह दुश्मन साम्यवाद था और शीत युद्ध के बाद यह आलमी जेहाद है। शीत युद्ध के पूरे दौर में अमरीका ने तानाशाहों का समर्थन किया तथा अपने प्रभुत्व को बनाये रखने और अपने साम्राज्यवादी स्वार्थों की रक्षा के लिए उनमें से कई तानाशाहों को एक-दूसरे के खिलाफ लड़ाता रहा। इसके कुछ प्रमुख उदाहरण हैं-- 1953 में इरान के निर्वाचित प्रधानमंत्री मोहम्मद मोशद्क के खिलाफ तख्तापलट में सहयोग, 11 सितम्बर 1973 को चिली के राष्ट्रपति सल्वाडोर अलेंदे की सरकार का सैनिक तख्तापलट करनेवाले जनरल अगस्तो पिनोचे का सहयोग और समर्थन तथा निकारगुआ के मार्क्सवादी सान्दिनिश्ता शासन के खिलाफ लड़ने के लिए कोंत्रा विद्रोहियों को हथियारों से लैस करना। हाशमी लिखते हैं-- ''(राष्ट्रपति रोनाल्ड) रीगन फिलिपीन्स के फर्देनान्द मार्कोस को एशिया का सबसे लोकतांत्रिक शासक मानते थे तथा अंगोला के युद्ध सरदार (जोनास) शाविम्बी, जाइरे का जन हत्यारा मुम्बुतु (सेसे सेको) और पाकिस्तान के इस्लामपंथी सैनिक तानाशाह जिया-उल-हक को दुनिया-भर में अमरीका का परम मित्र मानते थे।

1980 में अमरीका द्वारा अफगान मुजाहिद्दीन को सहयोग करना वहाँ इस्लामपंथी आतंकवाद के उभार का निर्णायक कारण था। साम्यवादी अफगानिस्तान में सोवियत सेना के खिलाफ छद्म युद्ध लड़ने के लिए अमरीका ने पाकिस्तान और सऊदी अरब के साथ मिलकर मुजाहिद्दीन लड़ाकों को पैसा और प्रशिक्षण दिया था और जब लाल सेना से युद्ध समाप्त हो गया, तब अमरीका हाथ पर हाथ धरे मुल्ला उमर के नेतृत्व में अफगानी गृहयुद्ध में अपने सहयोगी पाकिस्तान को तालिबान की मदद करते देखता रहा जिसमें मुल्ला उमर ने काबुल पर अधिकार कर लिया था। शीत युद्ध के बाद के काल में भी तानाशाहों का सहयोग करने या उन्हें बढ़ावा देने और मध्ययुगीन ताकतों के साथ सहयोग करने की नीति जारी रही। पाकिस्तानी तानाशाह परवेज मुशर्रफ के पीछे भी अमरीका ही था, जब तक कि 2008 में उसे अपदस्त नहीं कर दिया गया। मिस्र के तानाशाह हुश्नी मुबारक को भी 2011 की शुरुआत में उसकी सत्ता पर आँच आने तक अमरीका का सहयोग प्राप्त था। आज भी पश्चिम एशिया की सबसे नृशंस तानाशाही सऊदी अरब इस क्षेत्र में अमरीका का सबसे मजबूत मुस्लिम सहयोगी है।

इस तरह उदारवाद और मुक्ति के प्रति अमरीकी वचनबद्धता हमेशा उसकी अपनी ही भू-राजनितिक स्वार्थों की भेंट चढ़ती रही है और जहाँ भी ये उसके स्वार्थों के अनुरूप होते हैं, अमरीका उदारवादी अन्तरराष्ट्रवाद का शब्दजाल रचता है और यहाँ तक कि उसकी विदेश नीति का निर्धारण भी इसी विराट नैतिकता के विचारों पर आधारित होता है। 1990 के उत्तरार्द्ध में यूगोस्लाविया में उसने ऐसा ही किया, जब राष्ट्रपति बिल क्लिंटन ने मानवीय हस्तक्षेप के नाम पर नाटो के साथ उस पूर्वी यूरोपीय देश के ऊपर आक्रमण का नेतृत्व किया था। अमरीका ने यही काम 2003 में ईरान में किया, जब बुश ने कहा कि वे इराक को सद्दाम हुसैन की तानाशाही से ''मुक्त'' कर उस देश में लोकत्रंत लायेंगे। ये चुनिन्दा हस्तक्षेप केवल अमरीकी उद्देश्यों की पूर्ति करते हैं और शान्ति को खतरे में डालते हैं। इसीलिए हाशमी पूछते हैं-- ''अमरीका के साथ क्या गड़बड़ी हुई है? क्या अमरीका विश्व शान्ति के लिए सबसे बड़ा खतरा है? क्या यह सही नहीं कि मूल निवासियों का जन संहार, गुलामी और रंगभेद अमरीकियों को विरासत में मिला है और यही उनके मन-मस्तिष्क में रच बस गया है जबकि आजादी और लोकतंत्र का उनका सिद्धान्त सतही है जिसे वे गैर अमरीकियों पर लागू नहीं करते?

हाशमी लिखते हैं कि-- ''अमरीका की विभाजनकारी राजनीती और मुस्लिम एकाधिकार को बढ़ावा देने की नीति ही मुस्लिम दुनिया में लोकतंत्र और सभ्यता की कमी के लिए जिम्मेदार है, जिसमें सऊदी अरब, सीरिया, इराक, ईरान और पाकिस्तान शामिल हैं। मुस्लिम दुनिया के प्रति अमरीका की मजबूत लोकत्रांत, धर्मनिरपेक्षता और अच्छे शासन की नीति नहीं रही है। यह सिर्फ अमरीका के तात्कालिक राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए था। इसके विदेश मंत्रालय का कम से कम तीसरी दुनिया के लिए तो कोई दीर्घकालिक दृष्टीकोण और कार्यक्रम नहीं है।'' 1991 तक तुर्की, पाकिस्तान, बांग्लादेश और मलेशिया को छोड़कर लगभग सभी मुस्लिमबहुल देशों में निरंकुश शासन बरकरार था। और 2003 तक इनमें से तीन देशों इराक, सूडान और अफगानिस्तान पर पश्चिमी देशों की सेना ने आक्रमण किया था।

हालाँकि शीतयुद्ध के दौरान इस्लामपंथी अपने साझा दुश्मन साम्यवाद के खिलाफ पश्चिमी देशों को ''संदिग्ध, किन्तु सहयोगी'' मानते थे, लेकिन शीतयुद्ध काल में यह समीकरण बदल गया, क्योंकि पश्चिमी देश मुस्लिमबहुल देशों को निशाना बनाते रहे'' संक्षेप में, शीत युद्धोत्तर काल में संचित मुसलमानों का दुःखद अनुभव एक अन्य शीतयुद्ध-- इस्लाम बनाम पश्चिमी देश की ओर ले गया।

इस उभरते हुए टकराव में कौन ज्यादा बड़ा खतरा है? हाशमी लिखते हैं कि निश्चित ही ''कई इस्लामपंथी अपने विचारों में पूरी तरह फासीवादी हैं। वे आलमी जेहाद या सभी गैर मुस्लिमों के खिलाफ अन्तिम लड़ाई की अवधारणा पर विश्वास करते हैं और आगे बढ़ाते हैं। इसके तहत वे गैर मुसलमानों या पथभ्रष्ट मुसलमानों को जबरन पक्का मुसलमान बनाने या कत्ल करने या उनका सामूहिक नरसंहार करने की वकालत करते हैं। हमारे दौर में 11 सितम्बर 2001 को अमरीका के वर्ड ट्रेड सेंटर पर हुए हमले सहित कई हिंसक घटनाएँ, जिन्हें इस्लामपंथियों ने अंजाम दिया है, वे किसी से छुपी नहीं हैं। लेकिन साम्राज्यवाद ने मानवता पर जो कहर बरपाया, वह क्या कम है? द्वितीय विश्व युद्ध में 6 करोड़ से 8.5 करोड़ के बीच लोगों ने जान गवाँयी थी लेकिन कोरिया युद्ध से अब तब अमरीका द्वारा दर्जनों देशों में किये गये सैनिक हमलों में 7.5 करोड़ लोगों को मौत के घाट उतारा गया जिनमें ज्यादातर सामान्य नागरिक थे। मार्च 2003 में इराक पर अमरीकी हमले के बाद वहाँ 2007 तक 10 लाख से अधिक इराकी लोग मारे गाये तब से आज तक लाखों इराकी साम्प्रदायिक हिंसा में मारे जा चुके हैं। कोरिया युद्ध के बाद से अब तक अमरीका ने जिन 37 देशों पर हमले किये उनमें मरनेवालों की संख्या 2 करोड़ से 3 करोड़ के बीच रही है। जिनमें से अकेले

अफगानिस्तान में ही 0.9 करोड़ से 1.4 करोड़ लोगों की जानें गयी हैं। इसमें कोई शक नहीं हैं कि ''पश्चिमी देशों द्वारा तैयार की गयी नयी विश्व व्यवस्था द्वितीय विश्व युद्ध के अन्त के बाद से मानव सभ्यता के लिए सबसे बड़ी चुनौती है।''

''ग्लोबल जेहाद एण्ड अमेरिका'' शीत युद्ध के बाद स्थापित विश्व व्यवस्था की जटिलताओं को समझने में मदद करती है। यह अमरीकी विदेश नीति के कई मिथकों को तार-तार करती है और साथ ही अमरीकी सैनिक हमलों की गम्भीर लेकिन वास्तविक तस्वीर पेश करती है। घिसीपिटी शैली के अनुशरण को नकारना इस किताब को खास बनाता है। यह किताब मुस्लिम दुनिया की समस्याओं को चिन्हित करने के मामले में कमजोर दिखती है। जब वे कहते हैं कि ''मुसलमान आम तौर पर तर्कपूर्ण चिन्तन के लिए उपयुक्त नहीं हैं,'' तो इस वक्तव में प्राच्यवादी अतिरंजना को अनदेखा नहीं किया जा सकता, या उनका यह कथन की मुस्लिम दुनिया में इस्लामिक सैन्यवाद के पैदा होने या लोकतंत्र और मुक्ति के अभाव का कारण केवल अमरीकी विदेश नीति ही नहीं है। इसमें मुस्लिम राष्ट्रों की भू-राजनितिक प्रतिद्वन्द्विता और मुस्लिम दुनिया की शान्ति पर इसके प्रभावों पर भी रौशनी नहीं डाली गयी है। आज पश्चिम एशिया में सिर्फ अमरीका ही छद्मयुद्ध नहीं चला रहा है। ईरान और सऊदी अरब के बीच क्षेत्रीय शीतयुद्ध जरी है और दोनों के पिट्ठू दोनों देशों में मौजूद हैं। और अन्ततः शीतयुद्धोतर टकरावों को इस्लाम और पश्चिम के बीच का युद्ध बताना अमरीकी विदेश नीति के लक्ष्यों और रणनीतियों का अति सरलीकारण है। क्या अमरीका ने इराक पर इसलिए आक्रमण किया कि इराक एक मुस्लिम देश है? यह सन्देहास्पद है। जब बुश ने इराक पर हमला किया था, तब वहाँ किसी इस्लामपंथी का शासन नहीं था यह मुस्लिमबहुल राष्ट्र था, जहाँ धरमनिरपेक्ष बाथपार्टी का शासन था। इराक से पहले क्लिंटन प्रशासन ने कोशोवो निवासी अल्बानियाई मुस्लिमों की तरफदारी करते हुए युगोस्लाविया पर हमला किया था। पश्चिमी देशों का कहना था कि कोशोवो के मुसलमानों के अस्तित्व को सर्वों से खतरा है या सीरिया में बशर अल अशद की धर्मनिरपेक्ष तानाशाही के खिलाफ अमरीका ने सऊदी अरब के साथ गठजोड़ किया है बहाने बदलते रहते हैं, साम्राज्यवादी स्वार्थ हमेशा बना रहता है। अमरीका का ध्येय उत्तर सोवियत दुनिया में अपनी एकछत्र सत्ता को बनाये रखना है और वह तीसरी दुनिया की राजनीति को या तो जोर-जबरदस्ती के दम पर या कूटनीति के जरिये लगातार आकार दे रहा है।

लेकिन हाशमी यह ठीक ही चिन्हित करते हैं कि अमरीकी आधिपत्य कमजोर होता जा रहा है और वैश्विक राजनीति में हो रहे परिवर्तन, वर्चस्व की प्रतिस्पर्धा के नये अखाड़े खोल सकते हैं, क्योंकि चीन और रूस भी अब खेल में शामिल होने के लिए इन्तजार कर रहे हैं। **(फ्रण्टलाइन से साभार। अनुवाद- दीप्ती)**

# अमरीकी श्रमिकों की देशव्यापी हड़ताल न्यूनतम मजदूरी और यूनियन की माँग

**अमरीका के फास्ट**-फूड कर्मी और कम मजदूरीवाले दूसरे क्षेत्रों के लगभग 200 शहरों के मजदूरों ने 4 दिसम्बर को हड़ताल और प्रदर्शन किया। उनकी माँग थी कि उनकी मजदूरी 15 डालर प्रतिघंटा की जाय और उन्हें यूनियन बनाने का अधिकार दिया जाय। हड़ताल का आह्वान मजदूर संगठनों की राष्ट्रीय समन्वय समिति-- फाईट फॉर 15 ने किया था।

हड़ताल में कई फास्ट-फूड कम्पनियों के अलावा हवाई अड्डे के कर्मचारी, स्टील फैक्टरी के मजदूर, घरों में काम करनेवाले, खुदरा दुकानों के कर्मचारी भी शामिल थे। हड़ताली मजदूरों का कहना था कि 2009 से ही उनकी न्यूनतम मजदूरी 7.25 डालर और 9. 25 डॉलर के बीच है। इस हड़ताल को सर्विस इम्पलाईज इन्टरनेशनल यूनियन सहित कई मजदूर यूनियनों ने समर्थन दिया है। कई छोटे-बड़े संस्थानों के कर्मियों ने भी वेतन कटौती या नौकरी से निकाले जाने का भय छोड़कर हड़ताल में शामिल होने का नोटिस दिया और काम छोड़कर सड़कों पर आ गये।

शिकागो के हड़ताली मजदूरों का नारा था- "गेट अप, गेट डाउन! शिकागो इज ए यूनियन टाउन!!" शिकागो शहर में मजदूरों की एकता और हड़तालों के दमन की याद में ही दुनिया-भर के मजदूर मई दिवस मानते हैं।

अमरीकी मजदूर एक घंटे के काम के लिए 15 डॉलर (927 रुपये ) न्यूनतम मजदूरी की माँग कर रहे हैं। इस तरह वे दिन के लिए तकरीबन 7416 रुपये की माँग कर रहे हैं। अभी उन्हें एक घंटे की मजदूरी 9.25 डॉलर या 448 रुपये मिलते हैं। इस तरह उनकी न्यूनतम मजदूरी अभी 3584 रुपये प्रति दिन यानी एक लाख रुपये प्रति माह है। भारत में तो हकीकत यह है कि न्यूनतम मजदूरी जैसी कोई चीज है ही नहीं। चार-पाँच हजार मिल जाय तो बहुत है। भारत और अमरीका में मजदूरी का यही अन्तर 'मेक इन इण्डिया' का नारा देकर विदेशी पूँजीपतियों को आकर्षित करने का आधार है। इतना ही नहीं, मजदूर यूनियनों की कमजोरी का फायदा उठाकर यहाँ श्रम कानूनों को लचीला बनाने के नाम पर मजदूरों को पहले से भी सस्ता गुलाम बनाने की तैयारी हो रही है।

अमरीकी मजदूरों ने कहा है कि हमारी मजदूरी इतनी नहीं कि हम अमरीकी सपने को जीवन में उतार सकें। क्या भारत के करोड़ों ठेका मजदूरों और 97 फीसद असंगठित क्षेत्र के मजदूरों को भी नहीं कहना चाहिए कि हमें अपनी कंगाली को बनाये रखने-भर की जो मजदूरी दी जाती है, उसमें हम अच्छे दिन का सपना कैसे देखें?

# बोलीविया में चुनाव
# इवो मोरालिस की तीसरी जीत

**-प्रवीण कुमार**

**12 अक्टूबर को** घोषित हुए बोलीविया के राष्ट्रपति पद के चुनाव परिणामों में इवो मोरालिस की भारी जीत हुई है। उन्हें 60 प्रतिशत मत मिले जबकि उनके निकटतम प्रतिद्वन्द्वी को मात्र 25 प्रतिशत मत मिले। यह उनकी लगातार तीसरी जीत है।

इवो मोरालिस ने अपनी जीत को अपने आदर्श ह्यूगो शावेज व फिदेल कास्त्रो और पूँजीवाद व साम्राज्यवाद के खिलाफ संघर्ष कर रही दुनिया की तमाम मेहनतकश जनता को समर्पित किया है। उनकी जीत अमरीकी साम्राज्यवादी वैश्वीकरण की छत्र-छाया में चलायी जा रही निजीकरण की नीतियों पर राष्ट्रीयकरण की जीत है।

लातिन अमरीकी देशों में विश्व बैंक, मुद्रा कोष और अमरीकी साम्राज्यवाद के नेतृत्व में साम्राज्यवादी समूह द्वारा थोपी गयी नीतियों का दिवाला पिट चुका है। इसके खिलाफ एक के बाद एक देश की जनता उठ खड़ी हुई है। पूरे महाद्वीप में प्राकृतिक व मानवीय सम्पदाओं के निजीकरण के खिलाफ और इसके राष्ट्रीयकरण के पक्ष में जनता की आवाज बुलन्द हुई है।

अमरीकी साम्राज्यवादी संस्थाओं और अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष को बोलीविया से बाहर खदेड़े जाने के बारे में इवो मोरालिस का कहना है कि-- ''वास्तव में, इसके लिए मुझे खेद नहीं है। मैं अमरीकी राजदूत, ड्रग इन्फोर्समैन्ट एडमिनिस्ट्रेशन को बाहर खदेड़कर और बोलीविया में अमरीकी सैन्य अड्डे पर ताला जड़कर खुश हूँ। अब, अमरीकी राजदूत के बिना हमारे यहाँ कम षडयंत्र होते हैं और राजनीतिक व सामाजिक स्थिरता ज्यादा है। अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष के बिना हमारी आर्थिक हालत ज्यादा बेहतर है।''

2005 में इवो मोरालिस ने पहली बार देश की सत्ता सम्भालकर इतिहास रचा था। बोलीविया की आजादी के 200 सालों के इतिहास में पहली बार कोई मूलनिवासी (ऊपामारा इण्डियन) राष्ट्रपति पद के लिए चुना गया था। वह मूलतः एक कोका किसान परिवार के सदस्य और कोका किसानों के नेता रहे हैं।

कोका अमरीका के मूल निवासियों द्वारा प्राचीन काल से उगायी जा रही है। यह दवाई, खानपान और मूल निवासियों के धार्मिक क्रिया-कलापों में काम आती है। इससे कोकीन भी बनता है। अमरीका इसकी खेती करनेवालों का नशीले पदार्थों के खिलाफ युद्ध के नाम पर लम्बे समय से दमन करता रहा है, अमरीका विरोधी किसान, मजदूर नेताओं और राजनीतिक कार्यकर्ताओं की हत्या कराता रहा है। अपनी किशोरावस्था में इन्हीं कोका किसानों के बीच, अमरीकी दमन के खिलाफ नारे लगाकर इवो मोरालिस ने अपने राजनीतिक जीवन की शुरुआत की थी।

कुख्यात अमरीकी ड्रग इन्फोर्समेन्ट एडमिनिस्ट्रेशन को देश से बाहर खदेड़ चुके इवो मोरालिस का नशीले पदार्थों की तस्करी के बारे में कहना है कि- ''इसके खिलाफ लड़ा जाना चाहिए, हम इससे सहमत हैं और हम ज्यादा तर्कसंगत और प्रभावी ढंग से ऐसा कर रहे हैं। जब नशीले पदार्थों पर प्रतिबन्ध पूरी तरह अमरीका के नियंत्रण में था तब अमरीकी सरकार ने नशीले पदार्थों की तस्करी को पूर्ण रूप से भू-राजनीतिक उद्देश्यों के लिए इस्तेमाल किया। अमरीका नशीले पदार्थों की तस्करी और आतंकवाद को राजनीतिक नियंत्रण के लिए इस्तेमाल करता है। नशीले पदार्थों की तस्करी को रोकने का सबसे अच्छा तरीका है कि लोगों को काम में लगाया जाये। तब बोलीविया कोका विहीन नहीं होगा लेकिन कोका की बन्धनमुक्त खेती भी नहीं हो सकती, क्योंकि समस्या मौजूद है। जब तक कोकीन की बाजार में माँग है, तब तक पवित्र, प्राकृतिक पत्तियाँ औषधीय कोका की पत्तियाँ हमेशा इस आपराधिक समस्या के साथ जोड़ी जायेंगी। नशीले पदार्थों की तस्करी का मूल कारण इसकी माँग है, क्योंकि विकसित देश इसकी माँग को नहीं रोक पा रहे हैं।''

एण्डीज के पहाड़ी ढलानों पर बसा बोलीविया लातिन अमरीका का एक छोटा-सा और सबसे गरीब देश है, जबकि इसके पास टिन और प्राकृतिक गैस व तेल का विशाल भण्डार मौजूद है। 2005 में इवो मोरालिस के राष्ट्रपति बनने से पहले यहाँ की अधिकांश उर्वर जमीनों तथा टिन और प्राकृतिक गैस व तेल के भण्डारों पर चन्द बहुराष्ट्रीय कम्पनियों, यूरोप से आकर बसे मुट्ठी-भर गोरों और मिश्रित रक्त आबादी (मेस्तीजों) के छोटे से विशिष्ट वर्ग का कब्जा था। दूसरी ओर पूरी आबादी के बहुलांश मूल निवासी, काले और मिश्रित रक्त के लोग स्पेन से आजादी मिलने के 180 साल बाद भी हर तरह के अधिकारों से वंचित थे। इवो मोरालिस ने इसी मेहनतकश जनता को एकजुट किया और उनके संघर्षों का नेतृत्व किया।

लातिन अमरीका के दूसरे देशों की तरह बोलीविया भी पिछले 500 सालों में यूरोपीय उपनिवेशवादियों और अमरीकी साम्राज्यवादियों की लूट, शोषण, दमन और उत्पीड़न का शिकार रहा। स्पेनी उपनिवेशवादियों ने यहाँ के मूल निवासियों को उनकी जमीनों और प्राकृतिक संसाधनों से उजाड़ दिया, उन्हें लूटा-खसोटा और जघन्यतम नरसंहारों को अंजाम दिया। इन्हीं बर्बताओं का नतीजा है कि आज लातिन अमरीका में मूल निवासियों की आबादी मात्र 6 प्रतिशत रह गयी है।

एंग्लो-स्पेनिश युद्ध के दौरान, 1825 में अन्य लातिन अमरीकी देशों के साथ बोलीविया

भी आजाद हो गया। लेकिन यहाँ की जनता आजादी की खुली हवा में ठीक से साँस भी नहीं ले पायी थी कि अमरीका ने ''मर्लिन मुनरो सिद्धान्त'' के रूप में उनकी आजादी को ग्रस लिया। फिलीपींस और लातिन अमरीकी देश उसके पहले उपनिवेश बने।

नव उपनिवेशवादी अमरीका ने अपने पिट्ठूओं और कठपुतली तानाशाहों के जरिये इन देशों की जमीनों और प्राकृतिक संसाधनों की अन्धाधुन्ध लूट की। उनकी अर्थव्यवस्था को खोखला कर दिया और उनकी आजादी को मजाक बनाकर छोड़ दिया। अपनी बर्बर लूट और शोषण को कायम रखने के लिए उसने सैनिक दखलन्दाजी और नृशंस दमन का सहारा लिया।

बोलीविया का इतिहास भी अमरीकी लूट और सैनिक हस्तक्षेप की एक दास्तान है। 1825 से अब तक अमरीका ने वहाँ 200 बार तख्तापलट कराया और जनता की आकांक्षा को कुचला। 50 और 60 के दशक के क्रान्तिकारी उभार को कुचलने के लिए अमरीका ने बोलीविया की सरकार की आर्थिक और सैनिक दोनों स्तरों पर मदद की और बड़ी संख्या में सैन्य अधिकारियों को प्रशिक्षण दिया।

2000-2005 के बीच बोलीविया की जनता अपने जुझारू आन्दोलनों के माध्यम से बार-बार राजनीतिक पार्टियों के सामने अपनी माँग पेश करती रही। प्राकृतिक गैस के भण्डारों, उत्पादन और वितरण के साधनों का राष्ट्रीयकरण और मूल निवासियों और बहुसंख्यक आबादी के हितों में संविधान में परिवर्तन उसकी मुख्य माँग थी। प्राकृतिक गैस के राष्ट्रीयकरण की माँग को लेकर दो गैस युद्ध लड़े गये। पानी जैसे जीवन के लिए जरूरी प्राकृतिक संसाधन पर सार्वजनिक नियंत्रण बनाये रखने के लिए दो जल युद्ध लड़े गये। इन संघर्षों में 70 से ज्यादा लोग शहीद हुए। जनता की माँगों को नजरंदाज करनेवाली 4 सरकारों को जन आन्दोलनों के ज्वार ने उखाड़ फेंका।

सन 2005 में इसी जनता ने इवो मोरालिस को चुना और उनकी जीत में अपनी समस्याओं का हल देखा।

जनता की आशाओं पर खरा उतरते हुए इवा मोरालिस ने सत्ता हासिल करते ही सबसे पहले प्राकृतिक गैस के भण्डारों का राष्ट्रीयकरण किया। पानी के निजीकरण के लिए चल रही पिछली अमरीकी पिट्ठू सरकारों की तैयारियों को इतिहास के कूड़ाघर में फेंक दिया। खानों और बड़े उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया। उनके 8 सालों के कार्यकाल में राष्ट्रीयकरण की यह प्रक्रिया लगातार चल रही है। हाल में वे बड़ी जमीनों का राष्ट्रीयकरण करने की तैयारी कर रहे हैं। इसी दौरान कांग्रेस में जबरदस्त संघर्षों और अन्य तमाम विपरीत परिस्थितियों व साम्राज्यवादियों के पिट्ठूओं के दुष्प्रचार के बावजूद वे मेहनतकश, बहुसंख्यक मूल निवासियों के हितों के अनुरूप संविधान में दो बार परिवर्तन करने में कामयाब रहे हैं।

**वित्त और प्रशासन की सभी बारीकियों को समझने में मुझे बहुत दिक्कत होती है लेकिन यदि आप बौद्धिक और पेशागत क्षमता को एक सामाजिक अन्तसचेतना के साथ संयुक्त कर दें तो आप चीजों को बदल सकते हैं-- चाहे वह देश हों, संरचना हों, आर्थिक मॉडल हों या औपनिवेशिक शासन।**

**--इवो मोरालिस**

इवो मोरालिस ने सन 2005 में ही अमरीका समर्थित मुक्त व्यापार (एफटीएए) की जगह शावेज द्वारा प्रस्तावित लातिन अमरीकी देशों के संघ (एएलवीए) का समर्थन किया। आज वे इस संगठन के ध्वजवाहक हैं और एफटीएए को ''अमरीकी देशों के औपनिवेशीकरण को वैधता प्रदान करनेवाला समझौता'' मानते हैं। हाल ही में वाशिंगटन में सम्पन्न हुए संयुक्त राष्ट्र संघ के सम्मेलन में उन्होंने अमरीकी राष्ट्रपति बराक ओबामा को 'साम्राज्यवादी' कहा है।

अमरीकी विरोध की परवाह न करते हुए इवो ने लातिन अमरीकी देशों के आपसी भाईचारे और एकजुटता के लिए क्यूबा के नेता फिदेल कास्त्रो और वेनेजुएला के स्वर्गीय राष्ट्रपति ह्यूगो शावेज के साथ मिलकर अगवा भूमिका निभायी। आज अपने आदर्श और साथी ह्यूगो शावेज की गैर मोजूदगी में वे पूरे लातिन अमरीका में अमरीकी साम्राज्यवाद के विरोध का झण्डा बुलन्द किये हुए हैं। अपने 8 सालों के कार्यकाल में उन्होंने अमरीका और अन्तरराष्ट्रीय मुद्राकोष के सम्बन्ध तोड़ लिये और क्यूबा, वेनेजुएला जैसे लातिन अमरीकी देशों के साथ परस्पर सहयोग के समझौते किये।

आपसी सहकार को मजबूत करने के लिए वेनेजुएला की पहलकदमी पर बोलीविया और अन्य लातिन अमरीकी देशों की प्राकृतिक गैस कम्पनियों ने मिलकर एक साझा कम्पनी पैट्रोसूर बनायी, अपना व्यापारिक संघ मर्कोसूर बनाया और एक लातिन अमरीकी बैंक खोला। साम्राज्यवादी दुष्प्रचार का मुकाबला करने के लिए एक साझा टीवी चैनल टेलीसूर कायम किया गया। वेनेजुएला द्वारा कैरेबियाई देशों और संयुक्त राज्य अमरीका की गरीब जनता को सस्ता तेल देने का फैसला, क्यूबा और वेनेजुएला के बीच समाजवादी आधार पर सेवाओं और माल की अदला-बदली करने का समझौता तथा क्यूबा और वेनेजुएला द्वारा बोलीवियाई जनता की शिक्षा, मुफ्त इलाज और जरूरत-भर तेल की आपूर्ति के लिए किये गये समझौते इस क्षेत्र के आपसी भाईचारे और साम्राज्यवाद विरोधी एकजुटता के परिचायक हैं।

सम्पदाओं के राष्ट्रीयकरण, अमरीकी नेतृत्ववाले साम्राज्यवादी गिरोह और उसकी अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष जैसी लुटेरी संस्थाओं से सम्बन्ध-विच्छेद और बिरादराना देशों के साथ समाजवादी सहकार ने बोलीविया की मेहनतकश जनता की जीवन परिस्थितियों में ऐतिहासिक बदलाव किया है।

प्राकृतिक गैस भण्डारों पर जब तक निजी पूँजीपतियों का कब्जा था तो कुल मुनाफे का केवल 18 प्रतिशत ही सरकार को मिलता था। आज कुल मुनाफे का 82 प्रतिशत सरकार के हाथ में आता है। पहले सरकार की कुल आय में इस क्षेत्र की हिस्सेदारी मात्र 7 प्रतिशत थी जो आज बढ़कर 50 प्रतिशत से ज्यादा हो गयी है। इसी तरह खानों और उद्योगों के राष्ट्रीयकरण से सरकार की आय में तेजी से वृद्धि हुई है।

पिछले वर्ष ही बोलीविया में भूमि सुधार की शुरुआत हुई है। शुरू में कानून बनाकर

अन्यत्रवासी भूस्वामियों की जमीनों को गरीब किसानों में बाँट दिया गया है। एक अन्य कानून बनाया गया है, जिसके अनुसार एक सीमा से बड़ी मिल्कियतों को सरकार अपने अधिकार में ले लेगी। लेकिन इस कानून को लागू करने के लिए संविधान में बदलाव की जरूरत है। इसके लिए कांग्रेस में दो तिहाई बहुमत चाहिए, जो बहुत मुश्किल है। इवो का कहना है कि यह परिवर्तन बेहद जरूरी है और वे इसके लिए प्रतिबद्ध हैं।

जब तक बोलीविया पर अमरीकी पिट्ठुओं का शासन था तो सम्पत्तिशाली वर्ग कर से मुक्त रखे गये थे। पिछले आठ सालों में इस गंगा के बहाव को सीधा करके सम्पत्तिशाली वर्गों पर करों का बोझ डाला गया और जनता को उससे मुक्त किया गया।

सम्पदाओं के राष्ट्रीयकरण और सम्पत्तिशाली वर्गों पर लगाये गये करों से होनेवाली आय को सामाजिक कार्यों और जनता का जीवन स्तर ऊपर उठाने में खर्च किया गया है। द गार्जियन के अनुसार इस दौरान सामाजिक कार्यों पर होनेवाले खर्च में 20 प्रतिशत की भारी बढ़ोत्तरी हुई है। अमरीका के 'आर्थिक और नीति सम्बन्धी शोध केन्द्र -वाशिंगटन' ने अपनी रिपोर्ट में कहा है कि ''बोलीविया ने मोरालिस के शासन के आठ सालों में तेजी से विकास किया है। इस दौरान उसकी विकास दर 5 प्रतिशत से ज्यादा रही है।''

बोलीविया दक्षिण अमरीका का सबसे गरीब देश है। पिछले आठ सालों में गरीबी में 25 प्रतिशत की गिरावट आयी है और अत्यधिक गरीबी में 43 प्रतिशत की भारी कमी हुई है (द गार्जियन)।

अमरीकी नव उपनिवेशिक शासन में अमरीका का चाटुकार शासक वर्ग तो स्वर्गिक सुख भोग रहा था जबकि मेहनतकश आबादी नारकीय जीवन जीने को मजबूर थी। विदेशी कम्पनियाँ संसाधनों की लूट से चाँदी काट रही थी और मजदूर हाड़तोड़ मेहनत करने के बाद भी दो जून की रोटी को मोहताज थे। संसाधनों के राष्ट्रीयकरण से वास्तविक मजदूरी (महँगाई से अलग) में 87.7 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी हुई। इसी दौरान प्रति व्यक्ति आय ढाई गुणा से ज्यादा बढ़कर 1000 डॉलर से 2550 डॉलर प्रति व्यक्ति हो चुकी है।

देश के नागरिकों को रोजगार देने का बोलीविया की सरकार का रिकॉर्ड खुद संयुक्त राज्य अमरीका से भी बेहतर है। वहाँ बेरोजगारी की दर घटकर 10 प्रतिशत से भी नीचे है। दक्षिण अमरीका और कैरेबियाई आर्थिक आयोग की रिर्पोट के अनुसार ''बोलीविया उन गिने-चुने राष्ट्रों में शामिल हो रहा है जिन्होंने असमानता को सबसे ज्यादा कम किया है।''

तेल कम्पनियों के राष्ट्रीयकरण से होनेवाली आय में से 8 अरब डॉलर बोलीविया सरकार ने नौजवानों और बच्चा जननेवाली महिलाओं के लिए खर्च किये हैं। आर्थिक रूप से कमजोर छात्रों की उच्च शिक्षा का पूरा खर्च सरकार खुद वहन करती है। यहाँ तक कि हावर्ड और स्टैनफोर्ड जैसे विश्वस्तरीय विदेशी विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा ले रहे गरीब छात्रों का खर्च भी सरकार ही उठाती है। चीन से कर्ज लेकर सेटेलाइट के माध्यम से गाँव-देहात के दूर-दराज के विद्यालयों तक इंटरनेट की सुविधा उपलब्ध कराने का कार्य बोलीविया की सरकार ने इसी साल पूरा किया है। इसी वर्ष यूनेस्को की एक रिर्पोट में बोलीविया को पूर्ण साक्षर राष्ट्र होने पर बधाई दी गयी है।

दि गार्जियन का कहना है कि ''पिछले दो सालों में बोलीविया में कोका की खेती में कमी आयी है। यह असुविधाजनक तथ्य अमरीकी सरकार के लिए बहुत ध्यान देने लायक है जो लातिन अमरीका में पूर्णतया अप्रभावी और उच्च सैन्यकृत, नशीले पदार्थों के खिलाफ युद्ध पर अरबों डॉलर बर्बाद कर चुका है। मोरालिस ने पहले बिल्कुल ठीक कहा था कि नशीले पदार्थों के खिलाफ युद्ध के नाम पर अमरीका क्षेत्र की राजनीति में नाक घुसेड़ता है।''

आज के एक ध्रुवीय विश्व में शक्ति सन्तुलन साम्राज्यवादी समूह की ओर झुका हुआ है। ऐसी स्थिति में साम्राज्यवाद के हमलों का प्रतिरोध आसान नहीं। फिर भी अपने देश की बहुसंख्य जनता के समर्थन और सहयोग से एक हद तक साम्राज्यवादी दबावों का प्रतिरोध किया जाना सम्भव है। आज जब तीसरी दुनिया के बड़े देश साम्राज्यवाद की चाटुकारिता को ही अपना भाग्य मान चुके हैं, बोलिविया में इवो मोरालिस का प्रयास उत्साहजनक है।

**पृष्ठ 55 का शेष--**

यह सब नहीं कर पायेंगे क्योंकि ये सभी जगहें विकिरण के प्रभाव से ग्रसित हैं। कोई नहीं जानता कि यह भविष्य में उन्हें किस तरह प्रभावित करेगा।

माताएँ चिन्तित हैं कि उनके स्तन के दुध में विकिरणशील वस्तुएँ हैं। जो लड़कियाँ विकिरण से प्रभावित हुई हैं, उन्हें चिन्ता है कि वे कभी माँ नहीं बन पायेंगी।

यह सब किसी काल्पनिक विज्ञान कथा जैसा लगता है, लेकिन फुकुशिमा के जीवन का यथार्थ है।

और केवल फुकुशिमा ही प्रदुषित नहीं हुआ है। विकिरणशील सूक्ष्म कण समूचे पूर्वी जापान में चारों ओर फैले हुए हैं।

सुरक्षित हवा में साँस लेते महसूस करना।

सुरक्षित खाना खाते हुए महसूस करना।

सुरक्षित जमीन पर लेटे हुए महसूस करना।

यह रोजमर्रे की चीजें जो सामान्य अस्तित्व का हिस्सा हैं, हम नहीं कर सकते।

क्या यही आप भारत के साथ भी करना चाहते हैं?

मैं आपके देश में कभी नहीं गया, लेकिन मैं भारतीय चीजों को पसन्द करता हूँ, खासकर भारतीय भोजन और इसी रूचि के चलते हमने भारत के बारे में कुछ सूचनाएँ और छवि एकत्रित की हैं। मुझे लगता है कि भारत एक समृद्ध संस्कृतिवाला देश रहा है।

नाभिकिय ऊर्जा इस संस्कृति का नाश कर देगी। क्यों? क्योंकि यह लोगों का जीवन तबाह करती है, जबकि जीवन और संस्कृति साथ-साथ चलते हैं।

यही सब फुकुशिमा में हुआ। मैं इसका भुक्तभोगी और प्रत्यक्षदर्शी रहा हूँ और आपको पूरी दृढ़ता के साथ बता रहा हूँ।

भारत के उज्जवल भविष्य के लिए नाभिकीय ऊर्जा जरूरी नहीं है।

अगर आप सचमुच सोचते हैं कि यह जरूरी है तो कृपया भारत और फुकुशिमा की हकीकत को देखिये, अपनी आँखों से देखिये और जाँचिये।

**आपका**

**युकीको ताकाहाशी**

# फुकुशिमा (जापान) निवासी युकीको ताकाहाशी का पत्र
# प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी के नाम

**आदरणीय प्रधानमंत्री,**

मेरा घर फुकुशिमा में है।

मैं भारत-जापान नाभिकीय समझौता पर दस्तखत करने और अपने देश में नाभिकीय ऊर्जा संयंत्रों की संख्या बढ़ाने की आपकी योजना के बारे में अपनी गहरी चिन्ता व्यक्त करना चाहूँगा। क्या आप जानते हैं कि फुकुशिमा डाइ-इची के मौजूदा हालात क्या हैं? कृपया आप फुकुशिमा आइये और खुद ही देखिये कि यहाँ क्या हो रहा है।

तीन साल से अधिक समय बीत गया जब यहाँ नाभिकीय दुर्घटना शुरू हुई थी, लेकिन यह अभी तक थमी नहीं है।

विकिरणयुक्त पानी अभी भी लगातार समुद्र में बह रहा है और इसे रोकने की दिशा में शोध अभी-अभी शुरू हुआ है। चूँकि विकिरण का स्तर इतना अधिक है इसलिए उस संयंत्र के विशेषज्ञ विकिरण की निर्धारित सीमा से काफी अधिक प्रभाव झेल चुके हैं और अब यहाँ इस विनाश को नियंत्रित करनेवाले कामगारों की संख्या पर्याप्त नहीं है।

हमसे कहा गया है कि फुकुशिमा डाइची से नाभिकीय संयंत्र हटाने में अभी 30 साल लगेंगे, लेकिन आज के हालात में यह कहना सम्भव नहीं कि दुर्घटना को कब तक नियंत्रित किया जायेगा।

फुकुशिमा के मछुआरों की जीविका तबाह हो गयी है। जिन लोगों ने अपनी जान पर खेलकर सुनामी से अपनी नावें बचायी थी, वे समुद्र में विकिरण के चलते अब मछली नहीं पकड़ पायेंगे। कोई नहीं जानता कि समुद्र का उद्धार हो पायेगा या नहीं, समुद्र में दुबारा जीवन लौटेगा या नहीं।

फुकुशिमा के किसान त्रस्त हैं क्योंकि विकिरण का स्तर कम नहीं हो रहा है। अगर कोई क्षेत्र प्रदूषण-मुक्त हो भी जाता है, विकिरण का स्तर थोड़े समय के लिए कम भी हो जाता है तो फिर ऊपर चढ़ जाता है। क्या वह दिन कभी आयेगा जब हमारी धरती जो इतनी अधिक प्रदुषित हो गयी है, दुबारा उर्वर हो पायेगी?

कृपया कल्पना करने की कोशिश करें। आपको अपना रोजगार गँवाने पर कैसा लगेगा, जो आपके लिए इतना मायने रखता है। कितना कठिन होगा ऐसे अन्धकारमय भविष्य के साथ जी पाना।

लगभग 1,00,000 लोग ऐसे हैं, जिन्हें जबरन उनके घर से बाहर निकाल दिया गया, जहाँ वे पीढ़ियों से रहते आये थे क्योंकि यह अब विकिरण 'प्रभावित क्षेत्र' हो गया है या लोगों ने खुद ही अपना घर खाली कर दिया, क्योंकि वे स्वास्थ्य समस्याओं से बचना चाहते थे।

परिवार छिन्न-भिन्न हो गये और कई लोगों को कामचलाऊ आवासों में ठूँस दिया गया।

इस नाभिकीय आपदा में हमने अपने लोगों की जानें, अपना रोजगार, अपने मकान गँवाये हर वह चीज जो इन्सान के जीवन के लिए जरूरी है।

शर्त लगाइये, आप सोचते होंगे कि नाभिकीय दुर्घटना में कोई नहीं मरा। अगर भूकम्प और सुनामी आता तो जो लोग उसके शिकार होते उन्हें बचाया जाता। लेकिन चूँकि नाभिकीय दुर्घटना थी इसलिए राहतकर्मी उच्च विकिरण क्षेत्र में नहीं गये। राहत कि लिए लोगों के रोने-कलपने की आवाजें उन्हें सुनाई दे रहीं थीं, फिर भी वे उनके पास नहीं गये।

जापान में 40 वर्षों से हमसे कहा जाता रहा कि नाभिकीय ऊर्जा संयंत्र 'पूरी तरह सुरक्षित' हैं, लेकिन आपदा आयी। सिर्फ इतना ही नहीं, इस दुर्घटना के कारण को पूरी तरह जाना नहीं गया और आपदा जारी है। कोई नहीं जानता कि यह कब खत्म होगी।

हमने पाया कि 'नाभिकीय ऊर्जा स्वच्छ' ऊर्जा है, यह सरासर झूठ है। नाभिकीय ऊर्जा संयंत्र को लगातार ठंडा करना जरूरी होता है। इसके लिए समुद्र के पानी का इस्तेमाल किया जाता है और जब ठंडा करने का काम हो जाता है तो उस गरम पानी को दुबारा समुद्र में छोड़ दिया जाता है। नाभिकीय ऊर्जा संयंत्र के चलते समुद्र का तापमान बढ़ जाता है। यह एक सच्चाई है कि जबसे फूकई प्रान्त बन्द हुआ, तभी से वहाँ के आसपास के समुद्र का प्राकृतिक पारिस्थितिकी तंत्र पुनर्जीवित हुआ है।

नाभिकीय ऊर्जा पर भारी खर्च भी आता है। जाहिर है कि ईंधन और रखरखाव का खर्च उठाना ही पड़ता है, लेकिन अगर एक बार भी दुर्घटना हुई तो मुआवजे के रूप में अकूत धन देना भी अनिवार्य होता है।

और आखिरकार, नाभिकीय कचरे को निबटाने का उपाय अभी तक फ्राँस जैसे विकसित देश भी नहीं खोज पाये हैं। जापान में हम इस कचरे को अवोमेरी प्रान्त के रोक्काशो-मुरा में डिब्बा बन्द करते जा रहे हैं। इसके अलावा कुछ नहीं किया जा सकता।

और बहुत बड़ी मात्रा में कचरा जो नाभिकीय दुर्घटना से पैदा होता है-- विकिरण से प्रदूषित सारी मिट्टी और बाकी सभी चीजों का तो जलाया जा सकता है, लेकिन उससे निकलनेवाली विकिरणयुक्त राख का क्या करेंगे? फिलहाल फुकुशिमा में यह सब सड़क के किनारे छोड़ दिया गया है या बड़े-बड़े पुराने घरों के अन्दर भर दिया गया है।

विकिरणशीन पदार्थ ऐसी चीज है जिसे मनुष्य नियन्त्रित नहीं कर सकता। मानव जाति को चाहिए कि चेर्नोबिल और फुकुशिमा से यह सच्चाई जान ले।

पेड़ पर चढ़ना, नदी के तट पर लेटना, समुद्र तट पर खेलना, अब हमारे गृह नगर में यह सब सामान्य काम कर पाना कभी सम्भव नहीं हो पायेगा। किसी भी हाल में हमारे बच्चे

**-शेष पृष्ठ 54 पर**

पर्यावरण संकट

# जलवायु परिवर्तन के सवाल पर एक पहल

***(21 सितम्बर 2014 को शाहदरा, दिल्ली में पर्यावरण लोक मंच का स्थापना सम्मेलन हुआ। यह प्रपत्र उसी सम्मेलन में प्रस्तुत किया गया था। इस प्रपत्र में दिया गया संगठन का उद्देश्य और कार्यक्रम तदर्थ है और इसे विचार-विमर्श के लिए यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है।)***

**आज दुनिया एक** अभूतपूर्व परिस्थिति से गुजर रही है। जलवायु परिवर्तन के कारण धरती के करोड़ों प्रजातियों के पेड़-पौधों, जीव-जन्तुओं और खुद इंसान का अस्तित्व संकट में है। यह संकट विश्व युद्धों से अधिक संहारक, महामारियों से अधिक जानलेवा और परमाणु बमों से अधिक घातक है।

ओजोन परत में दरार बढ़ रही है। समुद्री जल में तेजाब घुलता जा रहा है। वातावरण में नाइट्रोजन और फास्फोरस का चक्र असंतुलित हो गया है। पृथ्वी तेजी से गर्म होती जा रही है। ग्लेशियरों का पिघलना, समुद्र का जलस्तर बढ़ना, कई इलाकों का रेगिस्तान में बदलना, जन्तुओं और वनस्पतियों की प्रजातियाँ लुप्त हो जाना, कहीं बाढ़ और कहीं सूखे का प्रकोप धरती के तपने के ही दुष्परिणाम हैं। जलवायु परिवर्तन के चलते खेती-किसानी की तबाही, कैंसर और टीबी का महामारियों का रूप ले लेने, समुद्र तट के पास बसे इलाकों के डूबने और व्यापक आबादी के विस्थापन का खतरा पैदा हो गया है। बुन्देलखण्ड का सूखा, पूरे उत्तराखण्ड और खासकर केदारनाथ घाटी की तबाही, जम्मू-कश्मीर की बाढ़, पुणे के मालिन गाँव का पहाड़ी मलबे में दब जाना, ये हादसे पर्यावरण संकट की दर्दनाक कहानी कहते हैं। यह संकट अपने साथ खाघान्न का अभाव, मेहनतकशों की बर्बादी और महिलाओं के लिए दुर्दिन लाता है।

औघोगिक क्रान्ति के बाद से ही मुनाफे की हवस में प्रकृति की तबाही शुरू हुई। इसके चलते प्रकृति और मानव समाज के बीच का परस्पर सम्बन्ध और सामंजस्य छिन्न-भिन्न होता गया। 1990 में दुनिया के शक्ति-सन्तुलन में आये बदलावों ने एकध्रुवीय विश्व व्यवस्था और साम्राज्यवादी वैश्वीकरण को आगे बढ़ाया। इसने दुनिया-भर में प्राकृतिक सम्पदा के दोहन और धरती के विनाश की गति को तीव्रतर कर दिया। परिणामस्वरूप पर्यावरण विनाश आज सारी हदें पार कर चुका है, जिसे समझने के लिए एक ही तथ्य काफी है-- 1750 से अब तक ढाई सौ सालों में दुनिया-भर में जितना कार्बन उत्सर्जित हुआ था, उसका एक चौथाई सिर्फ 2000 से 2013 के बीच हुआ।

कारखानों से निकले कचरे और धुएँ से वातावरण विषाक्त हो गया है। नदियों का पानी जीवनदायी नहीं, जानलेवा हो गया है। हर साल दुनिया में वायु प्रदूषण से 24 लाख लोग ठण्डी मौत मरते हैं। गुजरात के बलसाड जिले के आस-पास अलंग बन्दरगाह और पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के कई इलाकों की जमीन से प्रदूषण के कारण कैंसर की फसल उग रही है। दिनोंदिन बढ़ती बीमारियाँ चिकित्सा विज्ञान के सामने नित नयी चुनौतियाँ पेश कर रही हैं। चेर्नोबिल, थ्री माइल आइलैण्ड और फुकुशिमा की परमाणु दुर्घटनाओं और उससे रिसनेवाले रेडियोधर्मी विकिरण के घातक परिणामों से दुनिया-भर के शासक वर्गों ने कोई सबक नहीं सीखा। जैतापुर, कुडानकुलम, मीठीविर्दी और गोरखपुर (फतेहाबाद) में जनता के लगातार विरोध के बावजूद सरकार वहाँ नाभिकीय संयन्त्र लगाने पर आमादा है। आज दुनिया जलवायु परिवर्तन और पर्यावरण संकट की ऐसी ही अनेक ज्वलन्त समस्याओं का सामना कर रही है।

पिछले 250 सालों के दौरान पूँजीवादी विकास ने प्रकृति पर आश्रित मध्ययुगीन सामन्ती उत्पादन प्रणाली को इतिहास की गर्त में धकेल दिया। इसने विराट उद्योगों, तीव्रगामी यातायात और संचार साधनों के जरिये एक ओर समृद्धि का पहाड़ खड़ा किया तो दूसरी ओर बहुसंख्यक लोगों को गरीबी और आपदाओं के नरककुण्ड में धकेल दिया। बहुराष्ट्रीय निगमों के क्रियाकलाप क्षण-प्रतिक्षण पर्यावरण विनाश को न्यौता दे रहे हैं। दुनिया-भर की सरकारों से साँठगाँठ करके ये निगम दुनिया के प्राकृतिक संसाधनों का बेलगाम दोहन करते हैं, जैव विविधता को नष्ट करते हैं और पर्यावरण संकट को बुलावा देते हैं। उन्हीं की करतूतों का नतीजा है कि दुनिया-भर में हर साल 60 लाख हेक्टेयर जमीन रेगिस्तान में बदल रही है। कॉरपोरेट खेती को बढ़ावा देने के कारण कीटनाशक, खरपतवार नाशक, रासायनिक खाद, बीटी बीज और भू-जल के अत्यधिक इस्तेमाल से खेत बंजर होते जा रहे हैं और जैव विविधता नष्ट हो रही है।

पर्यावरण पर होनेवाले शोध और सरकारी-गैरसरकारी वैश्विक सम्मेलनों से यह पूरी तरह स्पष्ट हो गया है कि जलवायु परिवर्तन के विनाशकारी परिणामों के लिए अमरीका, जापान, यूरोपीय संघ के देश और तेल उत्पादक देश सबसे अधिक जिम्मेदार हैं। क्योटो प्रोटोकाल के तहत इन्होंने कार्बन उत्सर्जन में 5.2 प्रतिशत करने जिम्मेदारी ली थी, लेकिन कम करने की तो बात ही क्या, उस सम्मेलन के बाद से अब तक ये कार्बन उत्सर्जन को 11 प्रतिशत और अधिक बढ़ा चुके हैं। विकसित देश पर्यावरण संकट को हल करने की अपनी नाममात्र की जिम्मेदारी से भी मुँह चुरा रहे हैं। इसकी भारी कीमत दुनिया की गरीब आबादी को चुकानी पड़ रही है। दुनिया भर में 5 साल से कम उम्र के एक करोड़ बच्चे हर साल खसरा, डायरिया और साँस की बीमारी से मारे जाते हैं, जो दूषित पर्यावरण और मानवद्रोही सामाजिक आर्थिक व्यवस्था की देन है। आज मानव जीवन का कोई भी पहलू पर्यावरण संकट की मार से अछूता नहीं है।

हरी-भरी धरती, निर्मल नदियाँ और स्वच्छ वायु मण्डल आज एक सपना बनकर रह गये हैं। जलवायु परिर्वतन की इस विनाश लीला को समय रहते नियंत्रित नहीं किया गया तो यह धरती साक्षात नर्क में बदल जायेगी।

पर्यावरण संकट को लेकर दुनिया-भर में जागरूकता बढ़ी है। इसके कारण और समाधान के विषय में आज तीखी बहसें चल रही हैं। दुनिया के विभिन्न इलाकों की जनता स्थानीय स्तर पर इस समस्या से स्वतःस्फूर्त ढंग से और अलग-अलग मुद्दों पर संघर्ष कर रही है। कुछ व्यक्ति, समूह और संगठन पर्यावरण की रक्षा के नाम पर जल संरक्षण, वृक्षारोपण जैसे सतही सुधारों के कामों में लगे हैं। लेकिन इस विश्वव्यापी समस्या को समग्रता में समझे बिना इसका हल सम्भव नहीं है। दुनिया-भर के शोषक वर्गों ने मुनाफे और लूट की हवस ने इस संकट को जन्म दिया है और आज भी इस तबाही को जारी रखे हुए हैं। क्योटो, कोपेनहेगन और कानकून सहित जलवायु परिवर्तन को लेकर जितने भी सम्मेलन हुए उनका कोई ठोस नतीजा सामने नहीं आया। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा 23 सितम्बर 2014 को न्यूयॉर्क में आयोजित दुनिया-भर के शाषकों की बैठक भी बेनतीजा ही रहेगी, यह तय है। विकास के नाम पर विनाश को न्यौता देनेवाले बाजारवाद, उपभोगतावाद और लोभ-लाभ के पुजारियों से इसके समाधान की उम्मीद भी नहीं की जा सकती। जिनके मुनाफे की हवस ने इस समस्या को पैदा किया, उन्हीं के सहयोग पर निर्भर सुधारवादियों के भरोसे इसे छोड़ देने के बजाय आज इस मुद्दे को सामाजिक बदलाव के व्यापक उद्देश्य की कार्यसूची पर लाना जरूरी है। जलवायु परिवर्तन के घातक नतीजों के खिलाफ जन संघर्ष के साथ-साथ, इस सवाल को सामाजिक सम्बन्धों में आमूलचूल परिवर्तन के लक्ष्य से जोड़ना होगा। साथ ही इस समस्या के प्रति समग्र दृष्टिकोण अपनाने, व्यापक जनता की भागीदारी और दीर्घकालिक संघर्ष जरूरी है। आखिर कब तक इस मानवद्रोही पूँजीवादी व्यवस्था और इसके द्वारा उत्पन्न पर्यावरण संकट के आगे हम अपने वर्तमान और भविष्य की बलि चढ़ाते रहेंगे? इस संकट के समाधान के लिए मिलजुलकर प्रयास करना आज समय की माँग है।

## प्रस्ताव :

पर्यावरण संकट के विभिन्न मुद्दों पर काम करने के लिए एक संस्था-- **पर्यावरण लोक मंच** का गठन। जिसके उद्देश्य, कार्यक्रम और सांगठनिक नियम इस प्रकार होंगे।

## उद्देश्य :

निम्न लिखित मुद्दों पर अध्ययन, प्रचार और जनआन्दोलन संचालित करना-

**1.** प्रकृति और मनुष्य के बीच के सामंजस्य की पुनर्बहाली की जाय।

**2.** विकाश के नाम पर प्राकृतिक सम्पदाओं के अंधाधुंध दोहन और पर्यावरण विनाश पर रोक।

**3.** धरती के सभी निवासियों के लिए स्वच्छ भोजन, साफ पानी और शुद्ध पर्यावरण को मनुष्य का नैसर्गिक अधिकार मानते हुए इसकी गारण्टी।

**4.** जलवायु परिवर्तन और पर्यावरण विनाश से पैदा होनेवाली बीमारियों और प्राकृतिक आपदाओं से बचाव की गारण्टी।

**5.** उपभोगतावादी विलासितापूर्ण जीवनशैली की जगह प्रकृति और मनुष्य के बीच सम्बन्धों को सन्तुलित करते हुए तार्किक, वैज्ञानिक और न्यायसंगत आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था के निर्माण की दिशा में आगे बढ़ाना।

**6.** जैव विविधता को मानवता की धरोहर मानते हुए सुरक्षा प्रदान करना।

## कार्यक्रम :

**1.** इस विश्वव्यापी समस्या से सरोकार रखनेवाले वैज्ञानिकों, पर्यावरणविदों, बुद्धिजीवियों और कार्यकर्ताओं को एकजुट करने का प्रयास।

**2.** इस विकट समस्या को समग्रता में समझने और सही समाधान तलाशने के लिए पुस्तक-पुस्तिकाओं, पर्चों का प्रकाशन और वितरण।

**3.** जन अभियान, विचार विमर्श, सेमिनार, गोष्ठी और सम्मेलन के जरिये लोगों की चेतना उन्नत करना। इस समस्या को लेकर युवाओं के बीच वाद-विवाद प्रतियोगिता, चित्र प्रदर्शनी और अन्य रचनात्मक कार्यक्रमों का आयोजन।

**4.** पर्यावरण संकट से उत्पन्न समस्याओं का अध्ययन और जाँच-पड़ताल करना, उसे जनता के बीच ले जाना तथा शासन-प्रशासन के सामने उन समस्याओं को उठाना।

**5.** सरकार की पर्यावरण विरोधी परियोजनाओं और पर्यावरण विनाश की ठोस अभिव्यक्तियों का पर्दाफाश और विरोध करना।

**6.** प्रकृति के विनाश और बेलगाम कार्बन उत्सर्जन पर आधारित उपभोगतावादी जीवन शैली के स्थान पर समाज और प्रकृति के सन्तुलन पर आधारित, वैकल्पिक विकास नीति और जीवन शैली का प्रचार-प्रसार करना।

**7.** विकास के नाम पर आदिवासीयों और आम जनता की रोजी-रोटी छीनने और उनके विस्थापन का विरोध करना।

## सांगठनिक उसूल :

**1.** यह पूरी तरह स्वायत्त और स्वतंत्र सामाजिक संगठन होगा।

**2.** अपने स्रोत-साधन के लिए यह संगठन अपने सहयोगियों-समर्थकों और आम जनता पर निर्भर होगा तथा किसी भी देशी-विदेशी, सरकारी-गैर सरकारी संस्थाओं से या दानदाताओं से कोई सहयोग नहीं लेगा।

**3.** संगठन का संचालन लोकतांत्रिक पद्धति से होगा, यानी

**क.** व्यक्ति समूह के मातहत होगा। **ख.** अल्पमत बहुमत के मातहत होगा। **ग.** निचले निकाय ऊपरी निकाय के मातहत होंगे। **घ.** सभी मतभेदों पर बहस चलाकर अन्तिम निर्णय लिया जायेगा।

## नस-नस में जहर

अमरीका के 20 डॉक्टरों और नर्सों का सर्वे करने पर उनके शरीर में कम से कम 24 और अधिकतम 39 जहरीले रसायन पाये गये। इनका स्रोत हवा-पानी में घुला जहर, प्लास्टिक की बोतल, रसोई के उपकरण, कम्प्यूटर, फर्नीचर, मेडिकल उपकरण, शृंगार प्रसाधन और पैकिंग के साधन हैं।

हम सभी इन रसायनों से प्रभावित होते रहते हैं और हम सबके शरीर में नाना प्रकार के जहर घुले हुए हैं।

अमरीका और दुनिया भर में रोजमर्रे की जिन्दगी में 84,000 रसायनों का इस्तेमाल होता है जिनमें से लगभग 20,000 की संरचना और उनके हानिकारक प्रभावों को ''व्यापारिक-गोपनीयता'' के नाम पर हमसे छुपाया जाता है।

रिपोर्ताज

# पानीपत थर्मल प्लांट का पास-परिवेश

**-आशु वर्मा/अंशु मालवीय**

**पानीपत थर्मल प्लांट** के सामने से गुजरते समय अक्सर दैत्यकार चिमनियाँ और उनसे निकलता धुआँ, दूर तक फैली राख की पहाड़ियाँ और बंजर खेत, धूल और राख से अटी बस्तियाँ, गर्द में सने पेड़, उदास और बेरौनक दुकानें ध्यान खींचती थीं। नेहरू ने जिन बड़े सार्वजनिक प्रतिष्ठानों को आधुनिक युग के मंदिर और ''कमांडिंग हाइट्स'' कहा था, उन्हीं में से एक, इस प्लांट के आसपास की हवा इतनी बोझल क्यों महसूस होती है? हवा में एक घुटन क्यों तारी रहती है? आसपास का मंजर इतना डरावना क्यों है? क्या वास्तव में यह 'आधुनिक भारत का मंदिर' ही है? मन में प्रश्न उठता कि अगर यह मंदिर हैं तो देश में तमाम जगहों में बन रहे पावर-प्लांटो के खिलाफ आन्दोलन क्यों चल रहे हैं? और लोगों का विरोध कहाँ तक उचित है? खबरों के पीछे की वास्तविक सच्चाई क्या है? इन्हीं बातों को जानने-समझने और अपनी आँखों से देखने हम पानीपत थर्मल प्लांट गये और उसके आसपास के गाँवों के लोगों से बातचीत की। अमर उजाला, पानीपत के पत्रकार श्री प्रीतपाल ने इस काम में हमारी बहुत मदद की। उनके हवाले से जो जानकारियाँ हमें मिलीं वह परेशान करनेवाली हैं।

यह प्लांट 1974 में 110 मेगा वाट बिजली उत्पादन के साथ शुरू हुआ और आज यहाँ 1368 मेगा वाट बिजली का उत्पादन हो रहा है. प्लांट का परिसर 2182 एकड़ में फैला हुआ है जिसमें से प्लांट से निकलनेवाली राख के लिए 900 एकड़ जमीन में तालाब (ऐश पौण्ड) बना हुआ है। इस पौण्ड की गहराई पच्चीस मीटर है। बिजली उत्पादन के लिए इस प्लांट में रोज 20,000 टन कोयला लगता है जो धनबाद (झारखंड) और इंडोनेशिया से मँगवाया जाता है। इस 20,000 टन कोयले से 17,000 टन राख बनती है जिसे पानी के साथ पाइपों के जरिये ऐश पौंड में डाला जाता है। दशकों से लगातार राख और पानी बहाये जाने से मीलों तक फैला भयानक दलदल बन गया है जो पानी की तलाश में आये जानवरों को लील जाता है। राख के साथ पानी मिलाये जाने से आसपास के लगभग दस गाँवों का भूजल स्तर शून्य हो गया है। फसलें खराब हो जाती हैं, मकानों में भयंकर सीलन है और रेह, सेम या नूनी जमी रहती है। काफी सारे मकानों में दरार आयी हुई है। नये मकान भी ज्यादा दिन नहीं बच पाते। लोग दहशत-भरा जीवन जी रहे हैं। प्रीतपाल जी ने खुखराना गाँव का सरकारी स्कूल दिखाया जो बेहद जर्जर हालत में था। दीवारों में भयंकर सीलन थी, ईंटें झड़ी हुई थीं। एक अजीब-सी मनहूसियत पूरे प्रांगण में पसरी हुई थी। जमीन के नीचे पड़े हुए पानी के पाइप की चूड़ी बन्द थी फिर भी लगातार पानी बह रहा था। हमें बताया गया कि भूजल के शून्य स्तर पर होने के कारण पानी बहुत ऊपर आ गया है। बहुत से खेत अधिक पानी के कारण खराब हो गये हैं।

प्लांट से लगातार निकलनेवाली राख के कारण पच्चीस मीटर गहरा राख का तालाब भरते-भरते अब जमीन की सतह तक आ पहुँचा है। आसपास के गाँवों में लगातर राख उड़-उड़कर आती रहती है और जब हवा चलती है तब खुखराना, सुताणा, असन, लुहारी, जाटकलाँ और अन्य गाँव राख से ढँक जाते हैं। यह राख दस किलोमीटर के दायरे मे उड़ कर जाती है और आपके कपड़े, शरीर, मुँह, फेफड़े, मकान, पशु... सब को अपनी गिरफ्त में ले लेती है। हर जगह राख ही राख होती है। कोई बाहर सो नहीं सकता।

लोगों ने बताया की विश्व बैंक ने पहले राख के प्रबन्धन के लिए पैसा दिया था, पर उसका इस्तेमाल नहीं किया गया। अब तो इस मद में कोई पैसा भी नहीं आता। राख से सीमेंट बनाने के लिए जे. पी. सीमेंट की फैक्टरी लगी है पर उसमें रोज निकलनेवाली 1700 टन राख में से मात्र 200 टन ही इस्तेमाल होती है। पहले ईंट भट्टेवाले कुछ राख लेते थे, पर ईंट की गुणवत्ता खराब हो जाने से उन्होंने राख लेना बन्द कर दिया। अब मुफ्त देने पर भी वे नहीं लेते।

इस राख के कारण टीबी से आसपास के गाँवों के लगभग चालीस लोगों की मौत हो चुकी है। खुखराना के एक सरपंच की मौत भी टीबी से ही हुई थी... खुखराना के नम्बरदार ने एलर्जी से खराब हुआ अपना हाथ दिखाया। आसपास के गाँवों के 80 प्रतिशत लोग दमा, एलरजी, टीबी या आँख के रोगी हो चुके हैं। पहले कभी इन गाँवों में मेडिकल कैम्प लगते थे और प्लांट से डॉक्टर आते थे, पर अब धीरे-धीरे यह सब बन्द हो गये हैं। उच्च न्यायालय का आदेश था कि यहाँ के बाशिंदों की हर हफ्ते जाँच होनी चाहिए, कुछ दिनों तक जाँच हुई पर थोड़े समय बाद वह भी बन्द हो गयी। गाँवों के उप स्वास्थ्य केन्द्र में शायद ही कोई दवाई मिलती है। लोगों के स्वास्थ्य और जीवन को किस्मत के भरोसे छोड़ दिया गया है।

लोगों ने बताया कि लगातार बीमार रहने के कारण अब एक बीमारी ठीक होने से पहले दूसरी बीमारी पकड़ लेती है। इस इलाके में मलेरिया और टाईफाईड आम है। पहले पीने का टैंकर आता था, अब वह भी आना बन्द हो गया है। हैण्डपम्पों से शोरायुक्त पानी आता है। जिन लोगों की आर्थिक हालत थोड़ी ठीक है, उन्होंने तो आर.ओ. लगवा लिए हैं, पर गरीब तो वही पानी पी रहे हैं जो प्लांट से निकल कर ऐश पौण्ड में जाता है और सीपेज के द्वारा पम्पों तक पहुँच जाता है। सुताना गाँव में कोई अपनी लड़की की शादी नहीं करना चाहता। लोगों ने बताया कि प्लांट लगने के बाद सरकार की ओर से आसपास के लोगों के स्वास्थ्य या उनकी दूसरी समस्याओं का पता लगाने के लिए कभी कोई सर्वे नहीं करवाया गया।

लोगों का कहना था कि फसलों पर धूल की परत जमा रहती है और बाजार में उसके दाम कम मिलते हैं। मार्च-अप्रैल में जब फसलों की कटाई होती है, तब राख की आँधी के कारण खुखराना और जाटकलाँ गाँवों में कटाई के लिए

मजदूर नहीं मिलते। खुखराना गाँव के लोगों ने बताया की प्लांट के लिए जब सरकार यह जमीन ले रही थी तो यहाँ के बाशिंदों और किसानों को आनेवाले समय में यहाँ के पर्यावरण और लोगों के स्वास्थ्य पर पड़नेवाले इन दुष्प्रभावों के बारे में नहीं बताया गया था।

किसानों को यह अफसोस है की आज उनके जिन खेतों की कीमत एक करोड़ प्रति एकड़ है वह उनसे बेहद सस्ते दामों पर ली गयी थी। 1970 में बहुत सारे किसानों को मात्र 580 रुपये तो कुछ को 2000 रुपये प्रति एकड़ जमीन का मुआवजा मिला। 1977 में 8000 रुपये और 1990 में 70000 रुपये प्रति एकड़ जमीन की कीमत मिली। आज किसान अपनी जमीनों से भी हाथ धो बैठे हैं और स्वास्थ्य से भी। अपने बच्चों को देने के लिए उनके पास बीमारियों के अलावा कुछ भी नहीं है। कुछ लोगों को तो मुआवजा भी नहीं मिला। लोगों ने बताया की इमरजेंसी के समय जमीन ली गयी। पहले हमने पैसे लेने से इनकार किया था। फिर ले ली। पहले जे.सी.बी. नहीं थी। सबको काम मिल जाता था। आज प्लांट में भी जिन्हें काम मिला है उनकी संख्या ज्यादा नहीं है।

खुखराना गाँव के मौजूदा सरपंच ने बताया की गाँववालों ने उच्च न्यायालय में मुकदमा लड़ा कि स्वास्थ्य कारणों से उन्हें कहीं और बसाया जाय। मुकदमे के लिए भी उन्हें अपना वकील करना पड़ा, ताकि कोई गड़बड़ी न हो जाये। फैसला आये भी दस साल बीत चुके हैं कि इस गाँव को विस्थापित कर अब पास के सौदापुर गाँव मे बसाना है, अभी तक न तो उन्हें सौदापुर में बसाया गया है और न ही किसी प्रकार की ग्रांट सरकार की ओर से मिल रही है। इसके विरोध में कई गाँवों की महापंचायत भी हो चुकी है। दूसरे, सरकार ने गाँव में बसाने के लिए सिर्फ 54 एकड़ जमीन ही तय की है। बहुत सारी जमीन, मसलन पंचायती जमीन के कुछ हिस्सों को छोड़ दिया गया है। लाल टोर के अन्दर की जमीन का ही मुआवजा तय हुआ है। गाँव का कुल मुआवजा 1.5 लाख प्रति एकड़ निर्धारित किया गया है।

खुखराना, सुताना और आसपास के दस गाँव के लोग देश की राजधानी दिल्ली की जगमगाहट के बदले अपने पुरखों की जमीन खो बैठे हैं। खुद तिल-तिलकर मर रहे हैं और विरासत में अपने बच्चों को अन्धकारमय भविष्य देने को अभिशप्त है। वे विकास के ऐसे भयानक मॉडल का शिकार हो गये हैं जिसमें आम मनुष्य के जीवन की कोई कद्र नहीं और जो आम आदमी के जीने के अधिकार तक को चोट पहुँचाता है। जो लोगों को अपनी जगह जमीन से उजाड़ देता है और पर्यावरण का भयानक विनाश करता है। यह मॉडल पहले लुभावने सपने दिखाता है और फिर आसपास के प्रभावित लोगों को बीच भँवर में छोड़ कर उन्हें पूरी तरह लाचार बना देता है।

नेहरू के 'आधुनिक युग के मंदिर' तो फिर भी सार्वजानिक क्षेत्र के अधीन थे। उनके लिए सरकार जवाबदेह थी। आज निजीकरण और उदारीकरण के दौर में निजी पूँजी को लूट कि खुली छूट है और उसके मार्ग में आनेवाली हर कानूनी अड़चन को हटाया जा रहा है, चाहे भूमि अधिग्रहण कानून हो, श्रम कानून हो या पर्यावरण सम्बन्धी कानून, सबको विकास दर के आगे कुर्बान किया जा रहा है। इस नये दौर में विकास के इस विनाशकारी मॉडल की कितनी भारी कीमत चुकानी पड़ेगी, इसका अनुमान लगाना मुश्किल है।

# जलवायु परिवर्तन को लेकर स्वार्थ प्रेरित उलझाव

**–विक्रम प्रताप**

**पतनशील दौर में** पूँजी के प्रतिनिधि तथ्यों और तर्कों से प्रस्थान करने के बजाय हर बात पर कहते हैं कि इस कार्रवाई से हमारे देश की अर्थव्यवस्था को नुकसान होगा। इसे एक खास तरीके का कॉमन सेन्स बना दिया गया है और तर्कशास्त्र की जगह निजी लोभ-लाभ को स्थापित कर दिया गया है। अंधाधुंध विकास, बेलगाम विकास, हर कीमत पर विकास, चाहे धरती जल जाये या मानवता नष्ट हो जाये। विकास के इस नये धर्मशास्त्र के मार्ग में आनेवाले किसी भी तथ्य और तर्क को खारिज किया जा रहा है। यहाँ तक कि 'त्रिभुज के तीन कोण मिलकर दो समकोण के बराबर होते हैं' जैसी स्वयंसिद्धि भी अगर उनकी मुनाफाखोरी के मार्ग में बाधा बने तो इसे नकारने में उन्हें क्षण-भर नहीं लगेगा।

अमरीकी सीनेट के बहुमत का प्रतिनिधि मिच मैक्कोनेल ने ऐसा ही रूख कार्बन उत्सर्जन और ग्लोबल वॉर्मिंग के बारे में अपनाया। राष्ट्रपति ओबामा ने चीन के साथ कार्बन उत्सर्जन कम करने को लेकर हाल ही में एक समझौता किया, जिसकी आलोचना करते हुए मैक्कोनेल ने कहा कि कार्बन उत्सर्जन से सम्बन्धित कायदे-कानून हमारे राज्य में और देश के अन्य राज्यों में अफरा-तफरी मचा रहे हैं, क्योंकि ये हमारे आर्थिक हितों को नजरअंदाज कर रहें हैं।

आर्थिक हित, यह एक ऐसा पैमाना है जिसके जरिये दुनिया के शीर्षस्थ वैज्ञानिकों के इस तर्क को खारिज किया जा रहा है कि कार्बन उत्सर्जन का सीधा सम्बन्ध ग्लोबल वार्मिंग और जलवायु परिवर्तन से है जिनके विनाशकारी परिणाम निश्चित हैं।

पर्यावरण वैज्ञानिकों की माने तो इस शताब्दी के अन्त तक धरती का तापमान 2 डिग्री बढ़ने की सम्भावना है। एक विज्ञान पत्रिका के अध्ययन के मुताबिक अमरीका में बिजली की कमी में 50 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी हुई है।

न्यूयॉर्क टाइम्स में प्रकाशित एक लेख में सन 2100 तक तापमान में निरन्तर वृद्धि के बारे में भूतपूर्व खगोल वैज्ञानिकों और नासा के गोडार्ड स्पेस फ्लाइट सेण्टर में भू-विज्ञान के निदेशक पियर्स जे. सेलर लिखते हैं कि ''इस छोटे से समय के दौरान ही इसका असर बहुत विराट होगा। जितना ही हम सुधार की कार्रवाई को टालते जायेंगे इसके नतीजे उतने ही विनाशकारी होंगे।''

हाल ही में डेविड मिशेल की एक नयी पुस्तक 'द बोन क्लॉक्स' प्रकाशित हुई है। इसमें उन्होंने ऐसे भविष्य की तस्वीर पेश की है जिसमें पर्यावरण की तबाही, असाध्य बीमारी और वैश्विक अव्यवस्था के कारण सामान्य जीवन चूर-चूर हो रहा है।

मिशेल ने सन 2039 की आर्थिक तबाही की कल्पना की है जो एक ऐसे युग में ले जाता है जिसकी व्याख्या उन्होंने 'अज्ञान प्रसार' के रूप में की है। व्यवस्था पूरी तरह चरमरा जाती है, जैसे-- धरती के चारों ओर निचले शहरों में बाढ़ आ जाती है, संचार तंत्र ध्वस्त हो जाता है और परिवहन व्यवस्था की रफ्तार थम-सी जाती है। वैश्विक अर्थव्यवस्था का उतनी ही तेजी से पतन होता है, जितनी तेजी से पिछली आधी शताब्दी में उसका उभार हुआ था। आइरिश तट पर स्थानीय सरकार की

मदद से, चीनी दल एक विदेशी चौकी, जिसे सामान्यतः ''स्थायित्व'' के नाम से जाना जाता हैं, नियंत्रित करते हैं। इबोला और ''रैटफ्लू'' उस आबादी का नाश कर रही है जो भोजन के बदले मल-मूत्र की सफाई का काम करते हैं।

मिशेल की किताब का मुख्य पात्र होली साडक्स, 2043 तक दुनिया की जो हालत हो जायेगी उसके प्रति बहुत दुःख महसूस करता है। ''यह दुःख उन इलाकों की तबाही का नतीजा है जिन्हें हमने बंजर धरती में तब्दील कर दिया। बर्फ की जिन चोटियों को हमने पिघला दिया, खाड़ी की जिन धाराओं का हमने मुँह मोड़ दिया, जिन नदियों को हमने नाले में तब्दील कर दिया, जिन तटों को हमने सैलाब में डुबो दिया, जिन झीलों को हमने कचरे से भर दिया, जिन समुद्रों को हमने मार डाला, जिन प्रजातियों को हमने गायब होने की ओर धकेल दिया - सुविधाभोगी मक्कार नेताओं को हमने वोट देकर जिताया - यह सब इसलिए क्योंकि हम अपनी विलासितापूर्ण जीवन शैली को बदलने के लिए तैयार नहीं थे। हमारी पीढ़ी बिना सोचे-समझे उन रेस्त्रां में नाना प्रकार के व्यंजन भकोस रही थी जिनके बारे में इस धरती के धनाड्यों को ही जानकारी थी जबकि इस बात को नजरअंदाज कर रहे थे कि हम अपने पोते-पड़पोते को ऐसे मुहाने पर छोड़ रहे है जहाँ से उनकी वापसी मुमकिन नहीं होगी।''

हाल ही में अमरीका ने चेतावनी दी है कि पर्यावरण तबाही से बचने के लिए हर हाल में 2070 तक कार्बन उत्सर्जन को शून्य के स्तर तक पहुँचाना होगा। 2100 तक सभी ग्रीन हाउस गैसों (जिसमें कार्बन डाईआक्साइड, मेथेन, नाइट्रस आक्साइड और ओजोन शामिल हैं ) का उत्सर्जन भी शून्य के स्तर तक करना होगा, वरना पर्यावरण संकट ऐसी स्थिति में पहुँच जायेगा कि उसे फिर से दुरुस्त करना सम्भव नहीं रह जाऐगा।

संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम की रिपोर्ट के अनुसार, हमारे ग्रह का कार्बन बजट निश्चित है। पिछली सदी में 1900 गीगा टन कार्बन और 1000 गीगा टन ग्रीन हाउस गैसों का उत्सर्जन हुआ है। अब पृथ्वी को पर्यावरण विनाश तक पहुँचाने के लिए केवल 1000 गीगा टन कार्बन उत्सर्जन की कमी रह गयी है। इससे पृथ्वी का तापमान दो डिग्री सेल्सियस बढ़ जायेगा और मानवजाति के साथ-साथ जीव-जन्तुओं की तमाम प्रजातियों का जीवन खतरे में पड़ जायेगा।

संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम के मुख्य वैज्ञानिक जैक्लिन मैक्गलेड ने बताया कि पर्यावरण संकट को लेकर वैज्ञानिकों में किसी तरह की दुविधा नहीं है। वास्तव में, दुविधा राजनीतिज्ञों की स्वार्थपरता और इच्छा शक्ति में कमी के कारण है। कार्बन उत्सर्जन को कम करने की अपरिहार्यता और उसके तौर-तरिके वैज्ञानिकों ने बता दिया है, लेकिन दुनिया के शासक इस समस्या को लेकर बिलकुल गम्भीर नहीं है।

इस संकट से बचने के लिए 2020-2030 का दशक निर्णायक नीतियों को लागू करने के मामले में महत्त्वपूर्ण है।

ग्लोबल वार्मिंग, पर्यावरण संकट का एक पहलू है। नदियों का नाले में बदल जाना, भूजल स्तर में तेजी से गिरावट, बढ़ते बाढ़ और सूखा और तेजी से फैलती कैंसर जैसी जानलेवा बीमारियाँ इस समस्या के दूसरे पक्ष हैं जिनसे आम जनता का रोज-ब-रोज सामना होता है। कार्बन उत्सर्जन के लिए सभी लोग बराबर जिम्मेदार नहीं हैं। गरीब और धनी का उपभोग स्तर अलग-अलग होता है। इसीलिए दोनों के द्वारा कार्बन उत्सर्जन की मात्र भी अलग-अलग है। रिपोर्टों के अनुसार यह अन्तर पचासों गुने से भी अधिक तक है। विकास के नाम पर प्राकृतिक संसाधनों का अन्धाधुन्ध दोहन करके, पूँजीपतियों की तिजोरी भरने में लगा शासक वर्ग उन पर्यावरणवादियों और संवेदनशील लोगों को देशद्रोही और विकास विरोधी घोषित कर रहा है, जो मानवता के अन्धकारमय भविष्य के बारे में चेतावनी देते हैं।

# तीली

**सबसे सरल है**
**सबसे मुश्किल और सबसे महान चीजों को नष्ट करना**

**सिर्फ एक तीली**
**इतिहास की सबसे प्राचीन और दुर्लभ**
**पांडुलिपि को राख बना देने के लिए**

**एक तीली**
**अब तक पढ़ी न जा सकी,**
**लुप्त अज्ञात सभ्यताओं की अज्ञात लिपियों को राख**
**किसी मिथक-नायक के शौर्य और शोक को राख**
**किसी समाज के स्मृति-कोष,**
**किसी समुदाय के प्राक् बिम्बों को राख**
**किसी समूह की अस्मिता**
**किसी गरीब का घर**
**किसी स्त्री की जवान देह को राख**
**किसी आस्था के ईश्वर को राख**

**सिर्फ एक तीली चाहिए**
**किसी चिम्पांजी, किसी गुंडे या गुरिल्ला की**

**एक जरा-सी हरकत**
**एक रुपये का चाकू, बीस पैसे की ब्लेड,**

**दो पैसे की तीली**
**या किसी अपराधी का मामूली-सा पराक्रम**
**जरूरत से कुछ ज्यादा ही है**
**मोनालिसा की रहस्यपूर्ण उस हँसी की हत्या करने के लिए**

**डेढ़ किलो का मटिया लोहे का एक घन**
**स्थापत्य के इतिहास में संगमरमर के**
**सबसे ज़हीन और सबसे अदभुत गुम्बद को**
**मलबे में बदलने के लिए**

**एक अँधेरा कोना**
**जरा सी फुती**
**डेढ़ ओंस का ढला हुआ सीसा**
**किसी कवि, किसी संन्यासी, किसी मुँहफट जोकर**
**किसी विरोधी को**
**राजधानी की सड़क पर सदा के लिए**
**चुप और ठंडा करने के लिए**

**सबसे संक्षिप्त और सरल है**
**सबसे लंबी प्रक्रिया**
**म. बनी चीजों को खत्म करना**

**--उदय प्रकाश**

आलेख

# साम्राज्यवादी वैश्वीकरण की नयी गुलामी के खिलाफ

**(आल इंडिया वर्कर्स काउन्सिल के लखनऊ सम्मेलन *6-7-8 नवम्बर 2014* में देश-विदेश की ओर से प्रस्तुत)**

**हमारा देश, समाज** और मजदूर आन्दोलन एक अभूतपूर्व परिस्थिति से गुजर रहा है। वैश्वीकरण, उदारीकरण और निजीकरण जैसे मनमोहक नारों की आड़ में देश की मेहनतकश जनता पर गुलामी का शिकंजा लगातार कसता जा रहा है। हर तरफ अफरा-तफरी और बेचैनी का आलम है। रही-सही सेवा शर्तों और वेतन-भत्तों में कटौती, बढ़ती महँगाई, बेरोजगारी और असुरक्षा के कारण देश की बहुसंख्य जनता में असन्तोष व्याप्त है। अच्छे दिन के सुनहरे सपने बदहाली के शिकार मेहनतकश जनता को मुँह चिढ़ा रहे हैं।

पिछले दस वर्षों के दौरान मनमोहन सिंह की सरकार ने नवउदारवादी नीतियों को जिस बेरहमी से लागू किया था, उसने एक तरफ जहाँ आम मेहनतकश जनता के जीवन को नरक से भी बदतर हालात में धकेल दिया था, वहीं दूसरी ओर भ्रष्टाचार और घोटाले के नये-नये रेकॉर्ड भी कायम किये थे। जनता के मन में कांग्रेस सरकार के प्रति नफरत और गुस्से का लाभ उठाकर, बड़े-बड़े वादे और सपनों का मायालोक रचकर और जगह-जगह दंगे कराकर नरेन्द्र मोदी की अगुआई में भाजपा सरकार सत्ता में आयी। लेकिन सत्ता में आते ही इसने मनमोहन सिंह को भी मात देते हुए खुलेआम कॉरपोरेट घरानों और विदेशी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का हित साधना शुरू किया। श्रम कानूनों में बदलाव लाकर मजदूरों को गुलामों से भी बदतर स्थिति में पहुँचा देने की शुरुआत हुई। पिछली सरकार द्वारा जनान्दोलनों के दबाव में भूमि अधिग्रहण कानून में बदलाव लाकर किसानों को कुछ राहत देने के प्रयास को पलटने की तैयारी हो रही है। पर्यावरण को क्षति पहुँचानेवाली जिन परियोजनाओं पर कांग्रेस सरकार ने जनान्दोलनों के दबाव में रोक लगायी थी उन्हें एक-एक कर  हटाया जा रहा है और विनाश को निमंत्रण देनेवाली परियोजनाओं को क्लीन चिट दी जा रही है। आम जनता को दी जानेवाली सरकारी सब्सिडी खत्म की जा रही है, जबकि पूँजीपतियों को टैक्स में तरह-तरह की छूट दी जा रही है। दवा कम्पनियों को जीवनरक्षक दवाओं की कीमतों में बेतहाशा बढ़ोत्तरी की इजाजत दे दी गयी है। डीजल-पेट्रोल से सरकारी नियंत्रण हटा लिया गया है। 'मेक इन इंडिया' का नारा लगाते हुए विदेशी पूँजी को हर कीमत पर अर्थव्यवस्था के हर क्षेत्र में, यहाँ तक कि रक्षा क्षेत्र में भी बुलावा दिया जा रहा है और उनकी लूट को आसान बनाने के लिए श्रम कानून, वन कानून, पर्यावरण कानून, टैक्स ढाँचा, सामाजिक सुरक्षा, हर तरह के नियम-कानून को ताक पर रखा जा रहा है। इस सरकार का गुरुमंत्र है-- हर कीमत पर विकास, मुट्ठी-भर लोगों का विकास और इस पर सवाल उठानेवाले देशद्रोही! कुल-मिलाकर विकास के नाम पर विनाश को निमंत्रण ही नयी सरकार का मूल मंत्र है।

1991 में, जब राव-मनमोहन की सरकार ने नयी आर्थिक नीति लागू करना शुरू किया था, तब आम जनता को इन नीतियों के घातक परिणामों का अहसास नहीं था। आम जनता को अखबारों, पत्र-पत्रिकाओं और संचार माध्यमों के जरिये इन नीतियों के बारे में छिटपुट सूचनाएँ ही मिलती थीं। लेकिन, इसके आधार पर भविष्य की भयावहता का अनुमान लगाना मुमकिन नहीं था। कुल-मिलाकर नयी आर्थिक नीति के प्रावधानों और उनके भावी परिणामों की चर्चा समाज के थोड़े से लोगों के बीच ही सीमित थी। लेकिन, इन नीतियों के लागू होने के दो दशक बाद भी आज देश की आबादी का बहुत बड़ा हिस्सा-- मजदूर, किसान, छात्र, नौजवान, शिक्षक, कर्मचारी और अन्य मेहनतकश समुदाय इन नीतियों का दुष्परिणाम झेल रहा है और इसे अपनी जिन्दगी में महसूस कर रहा है।

बेरोजगारी, अर्ध-बेरोजगारी, भुखमरी, कुपोषण, गरीबी और आत्महत्या आज भारतीय जीवन की आम सच्चाई बन चुकी है। कोलकाता, मुम्बई, अहमदाबाद, दिल्ली और उसके आस-पास के औद्योगिक क्षेत्रों में बन्द कारखानों की ठठरी, उजड़े हुए उद्योगों के कंकाल नयी आर्थिक नीति के कारण होनेवाली तबाही की दास्तान सुना रहे हैं। वीरान और उजड़े हुए औद्योगिक नगरों को देखकर ऐसा लगता है, जैसे किसी नादिरशाह, किसी तैमूर लंग की फौज अभी-अभी इस राह से गुजरी हो।

यह स्थिति अत्यन्त क्षोभकारी है। ऐसे में कोई भी संवेदनशील व्यक्ति भला चुप कैसे बैठा रह सकता है। लोग सड़कों पर उतर रहे हैं। खासकर वे लोग जो सीधे-सीधे इन नीतियों के शिकार हो रहे हैं। हर रोज देश के किसी-न-किसी कोने से किसी-न-किसी समुदाय के आन्दोलन-हड़ताल की खबरें आ रही हैं। हर रोज पुलिस प्रशासन द्वारा आन्दोलनों के दमन-उत्पीड़न की खबरें आ रही हैं। जहाँ दमन है, वहाँ प्रतिरोध भी है। लेकिन, दुर्भाग्यवश पूँजी के बर्बर हमलों को देखते हुए हमारा प्रतिरोध बहुत प्रबल और प्रभावी नहीं रहा है।

आज मजदूर आन्दोलन के समक्ष यह महत्त्वपूर्ण कार्यभार है कि इस अभूतपूर्व परिस्थिति को गहराई से समझने का प्रयास किया जाय, तभी हम इस नयी चुनौती का सफलतापूर्वक सामना कर पायेंगे। आज हमारी लड़ाई का मुद्दा महज वेतन, भत्ता या कार्यदशा में सुधार तक सीमित नहीं है, बल्कि हमारे सामने आज अस्तित्व का सवाल भी आ खड़ा हुआ है। जाहिर है कि लड़ाई के पुराने तौर-तरीकों से इस नयी परिस्थिति का मुकाबला सम्भव नहीं है। हमें अपना ढँग-ढर्रा बदलना होगा, अपने रणकौशल में बुनियादी परिवर्तन लाना होगा, तभी हम कामयाब हो पायेंगे। लेकिन, इसके लिए सबसे पहले हमें वैश्वीकरण, उदारीकरण और निजीकरण की पूरी परिघटना को तथा दुनिया के पैमाने पर वर्ग शक्तियों के सन्तुलन में हुए महत्त्वपूर्ण बदलावों को समझना होगा।

वैश्वीकरण किसी व्यक्ति विशेष की सनक या दिमाग की उपज नहीं है। यह दुनिया-भर में लगातार हो रहे वैज्ञानिक तकनीकी शोध और विकास तथा पूँजीपतियों द्वारा मानवता के ज्ञान में हुए इजाफों पर अपना एकाधिकार कायम करके बेहिसाब मुनाफा कमाने की हवस का नतीजा है। यह पूँजी और श्रम के बीच अनवरत जारी संघर्षों में पूँजी की सामयिक जीत और श्रम की सामयिक हार का नतीजा है। वैश्वीकरण अलौकिक, परिहार्य या अपराजेय नहीं है, जैसा कि इसके धर्मावलम्बी दुनिया-भर की जनता को बता रहे हैं। यह इतिहास की उपज है और इसे इतिहास की गर्त में चले जाना है।

लगभग 400 वर्ष पहले यूरोप के सौदागर अपने तैयार माल के

लिए बाजार और अपने उद्योगों के लिए कच्चे माल के स्रोतों की तलाश में दुनिया की खोज करने निकले थे। औद्योगिक क्रान्ति के बाद यह प्रक्रिया और भी तेज हो गयी। उन्होंने छल-बल से एशिया, अफ्रीका और अमरीका के देशों को एक-एक करके गुलाम बनाया। वहाँ की जनता पर बर्बर अत्याचार किये और उन देशों की विपुल प्राकृतिक सम्पदा को जमकर लूटा। लेकिन, यह लूट हमेशा जारी रहनेवाली नहीं थी। गुलाम देशों की जनता में इन साम्राज्यवादी लुटेरों के प्रति नफरत और आक्रोश बढ़ता गया तथा उनमें राष्ट्रीय स्वाधीनता की चेतना बढ़ती गयी। साथ ही 20वीं सदी के प्रारम्भ तक साम्राज्यवादी लुटेरों-- अमरीका, ब्रिटेन, जर्मनी, जापान इत्यादि के बीच अपने औद्योगिक माल की ब्रिक्री और पूँजी निवेश के लिए उपनिवेशों (गुलाम देशों) को आपस में बाँटने या उनपर कब्जा जमाने के लिए होड़ तेज हो उठी। इस बन्दरबाँट के लिए दुनिया-भर में दो बार वहशियाना लड़ाई हुई। इन विश्वयुद्धों के दौरान गुलाम देशों की जनता का स्वाधीनता संग्राम पहले से कहीं तीखे और निर्णायक दौर में पहुँच गया। जनता की बढ़ती साम्राज्यवाद विरोधी चेतना को देखते हुए अब साम्राज्यवादियों के लिए उन देशों को सीधे-सीधे गुलाम बनाये रखना सम्भव नहीं रह गया। पूरी दुनिया में राष्ट्रीय आजादी की एक नयी लहर चल पड़ी। जिस ब्रिटेन का सूरज पूरी दुनिया में नहीं डूबता था, वह दूसरे विश्वयुद्ध के बाद अपनी खोल में सिमट गया। साम्राज्यवादी ताकतों को विश्व जनगण के संघर्षों ने पीछे हटने पर मजबूर कर दिया।

राष्ट्रीय स्वाधीनता संघर्ष की धारा के साथ-साथ 20वीं सदी में एक और महत्त्वपूर्ण धारा इतिहास के दृश्य पटल पर अवतरित हुई-- समाजवादी धारा। रूस, पूर्वी यूरोप और चीन सहित दुनिया के कई देशों के मजदूरों ने अपने-अपने देशों में क्रान्ति करके शोषण और लूट की सत्ता को समाप्त किया और उसकी जगह न्याय और समानता पर आधारित समाज व्यवस्था कायम करने की ओर कदम बढ़ाया। इन देशों ने आपसी एकता, भाईचारा और परस्पर सहयोग के जरिये साम्राज्यवादी-पूँजीवादी देशों की चुनौतियों का मुकाबला किया। आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक हर क्षेत्र में समाजवादी खेमे के देशों ने नये-नये कीर्ति स्तम्भ खड़े किये और दुनिया-भर की मेहनतकश जनता के लिए नये आदर्श और नये सपनों को जन्म दिया। यह सपना था, शोषण-उत्पीड़न से मुक्त दुनिया का सपना। एक ऐसी दुनिया का सपना, जहाँ एक देश द्वारा दूसरे देश का और एक मनुष्य द्वारा दूसरे मनुष्य का शोषण न हो।

जिन देशों ने विदेशी लुटेरों के जुए से अपने-आपको आजाद कराया था, उनमें से कुछ देशों के नये शासकों ने तो साम्राज्यवाद की छत्रछाया में, उनके ही रहमोकरम पर देश को आगे बढ़ाने का रास्ता अपनाया। लेकिन, भारत सहित कई नव-स्वाधीन देशों ने अपने देश की अर्थव्यवस्था को यथासम्भव साम्राज्यवादी प्रभाव से बचाते हुए एक हद तक आत्मनिर्भर विकास का रास्ता अपनाया। हालाँकि ऐतिहासिक कारणों से और खुद इन नये शासकों की अपनी वर्गीय सीमाओं के चलते इस मार्ग में अनेक बाधाएँ थीं, क्योंकि इन नये शासकों ने खुद अपने देश के पूँजीपतियों को जनता को लूटने और मुनाफा कमाने की खुली छूट दी थी, सामन्ती भू-स्वामियों से समझौता किया था और साम्राज्यवाद से पूरी तरह सम्बन्ध विच्छेद नहीं किया था। इस पूरे दौर में इन देशों में विदेशी कर्ज, तकनीकी सहायता और असमान व्यापार के जरिये साम्राज्यवादी लूट किसी-न-किसी रूप में जारी रही। लेकिन, स्वाधीनता के तत्काल बाद अपने देश में विदेशी पूँजी को खुलेआम निमंत्रण देने का अर्थ यही होता कि गुलामी से जर्जर इन देशों की अर्थव्यवस्था पर साम्राज्यवादी पूँजी का वर्चस्व कायम हो जाता। ऐसे में उनकी आजादी का कोई अर्थ नहीं रह जाता।

इस सदी के उत्तरार्ध में समाजवादी देशों में एक ऐसी दुखद प्रक्रिया शुरू हुई, जिसने विश्व पूँजीवाद की मानवद्रोही आकांक्षाओं को फिर से आक्रामक रुख अपनाने का अवसर प्रदान किया। 1956 के रूस में ख्रुश्चेव ने अपने तीन शान्तिपूर्ण सिद्धान्तों की आड़ में समाजवाद का परित्याग कर वहाँ नये सिरे से राजकीय पूँजीवादी व्यवस्था कायम करना शुरू किया। पूर्वी यूरोप के शासकों ने भी आगे चलकर अपने-अपने देश के मजदूर वर्ग के साथ विश्वासघात किया। 1977 के बाद चीन भी विपथगामी हो गया। समाजवादी खेमे के विध्वंस के कारण क्या थे तथा उन देशों में मजदूर वर्ग की जगह पूँजीपति वर्ग की सत्ता कैसे स्थापित हुई, यह जानना बहुत जरूरी है और हम मेहनतकशों को इसे जरूर जानना चाहिए। हालाँकि समयाभाव के कारण इस मुद्दे पर यहाँ विचार करना सम्भव नहीं है। आज दुनिया के इतिहास के नकारात्मक मोड़ देनेवाली इस घटना के कारणों पर विवाद हो सकता है, लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि वैश्वीकरण-उदारीकरण के नाम पर लूट और शोषण की जो नयी पूँजीवादी व्यवस्था पूरी दुनिया के मेहनतकशों पर नृशंस हमले कर रही है, उसके आगे बढ़ने में समाजवादी खेमे का टूटना दुनिया-भर के मेहनतकशों और उनके संघर्षो के लिए भारी नुकसानदेह साबित हुआ है, क्योंकि इसके चलते विश्व शक्ति सन्तुलन मेहनतकशों के बजाय पूँजीपतियों के पक्ष में चला गया।

समाजवादी देशों और नव स्वाधीन देशों के बीच स्वाभाविक तौर पर आपसी सहयोग की भावना थी और इन दोनों ही तरह के देशों में साम्राज्यवादी पूँजी के प्रति घोर नफरत मौजूद थी। इन दोनों ही तरह के देशों के जागरण ने साम्राज्यवाद की चुनौती का सामना करने के लिए आपसी एकता का परिचय दिया। साम्राज्यवादी देशों के लिए यह अस्तित्व की शर्त थी कि नव-स्वाधीन देशों और समाजवादी देशों का दरवाजा भी उनकी लूट और मुनाफाखोरी के लिए खुल जाय। यही कारण है कि शीतयुद्ध के काल में अमरीकी जासूसी संगठन सीआइए और पश्चिमी प्रचार माध्यम रात-दिन इन देशों में बगावतें भड़काने और सैनिक हस्तक्षेप के जरिये तख्तापलट करवाने की कोशिशों में लगे रहते थे।

उधर, दूसरे विश्वयुद्ध के बाद साम्राज्यवादी देशों की अर्थव्यवस्था में जो तेजी दिखाई दे रही थी, वह ज्यादा दिनों तक कायम नहीं रही। 1980 के बाद उनका विकास ठहर गया और कुछ देशों की विकास दर तो ऋणात्मक हो गयी। इनका संकट यह था कि अपने अतिरिक्त माल को कहाँ बेचें और लूट से जमा इफरात पूँजी को कहाँ लगाएँ। दूसरी ओर नव-स्वाधीन देश गुलामी के लम्बे दौर में तकनीकी विकास में पिछड़ गये थे। वहाँ के पूँजीपतियों को अपने देश की जनता को लूटने और अधिकाधिक मुनाफा कमाने के लिए विदेशी पूँजी और नयी तकनीक की जरूरत थी। भूतपूर्व समाजवादी देश भी भीतरी-बाहरी दबावों के कारण न्याय-समता के लक्ष्य को त्याग देने के बाद आर्थिक संकट के पूँजीवादी रोग से ग्रस्त थे। 1990 तक उन्होंने राजकीय पूँजीवाद को छुपाने वाले समाजवादी मुखौटे को त्याग दिया और नग्न पूँजीवादी रास्ता अपनाते हुए साम्राज्यवाद के साथ गठजोड़ में लग गये। इन सभी कारकों ने पूँजीवाद को अपनी लूट, शोषण और लोभ-लाभ को दुनिया-भर में फैलाने, उनका वैश्वीकरण करने का अनुकूल अवसर प्रदान किया और अमरीकी चौधराहटवाले साम्राज्यवादी देशों की वैश्विक लूट की महत्त्वाकांक्षा को पूरा करने की परिस्थिति तैयार कर दी। सूचना तकनीकी में हुए अभूतपूर्व विकास ने उनके इस काम में काफी मदद पहुँचायी, क्योंकि इसने दुनिया को काफी करीब ला दिया। इसके चलते पूँजी की आवाजाही

काफी आसान हो गयी और इंटरनेट के जरिये दुनिया-भर की पूँजी पर नियंत्रण बनाये रखना आसान हो गया। मुद्राकोष, विश्व बैंक, गैट की तिकड़ी लम्बे समय से पूरी दुनिया को अपने साम्राज्यवादी मालिकों के मनोनुकूल ढालने के लिए प्रयासरत थी। 1990 के बाद इस प्रक्रिया में अभूतपूर्व तेजी के साथ विस्तार शुरू हुआ।

इतिहास की इन घटनाओं पर नजर डालने से यह स्पष्ट है कि 1990 के आसपास दुनिया का शक्ति सन्तुलन निर्णायक तौर पर पूँजी के पक्ष में झुक गया। आज दुनिया के पैमाने पर पूँजी द्वारा श्रम पर जो कातिलाना हमला हो रहा है, उसके मूल में दुनिया के वर्ग शक्ति सन्तुलन में होनेवाला यही ऐतिहासिक परिवर्तन है। दुनिया-भर के श्रमिक आन्दोलनों की कार्यसूची पर यही कार्यभार सबसे महत्त्वपूर्ण है कि विश्व शक्ति सन्तुलन को श्रम के पक्ष में बदलने के लिए निर्णायक संघर्ष छेड़ा जाय। श्रम और पूँजी के बीच जारी विश्वव्यापी संघर्ष का अंग बनकर ही भारतीय श्रमिक आन्दोलन अपनी यह ऐतिहासिक भूमिका निभा सकता है।

इधर 70-80 के दशक से ही भारत के शासकों ने साम्राज्यवाद के साथ साँठ-गाँठ शुरू किया था। राजीव राज में खुले दरवाजे की नीति लागू की गयी थी और बेतहाशा विदेशी कर्ज लेना शुरू किया गया था। 1980 में हमारे देश पर 2000 करोड़ रुपये का कर्ज था, जो 1990-91 में बढ़कर लगभग दो लाख करोड़ रुपये हो गया। इन कर्जों को देश के आर्थिक विकास में लगाने के बजाय नेताओं, नौकरशाहों और उनके पिछलग्गू बुद्धिजीवियों की अय्यासी के लिए, विदेशी उपभोक्ता वस्तुओं के आयात और पूँजीपतियों के मुनाफे की हवस के लिए विदेशी गठजोड़ पर खर्च किया गया। चन्द्रशेखर के शासनकाल तक आते-आते देशी-विदेशी कर्ज के जाल में उलझ गया और भुगतान सन्तुलन का संकट पैदा हो गया। अप्रवासी भारतीयों ने भारतीय बैंकों में जमा विदेशी मुद्रा वापस लेना शुरू किया। परिणामस्वरूप देश दिवालियेपन की कगार पर पहुँच गया और विदेशी मुद्रा भंडार की पूर्ति के लिए 40 टन सोना बैंक ऑफ इंग्लैंड में गिरवी रखना पड़ा। 1991 में राव मनमोहन की सरकार ने देश को संकट से निकालने के नाम पर आत्मनिर्भर आर्थिक विकास की आकांक्षा और राजनीतिक सम्प्रभुता का परित्यागकर विश्व बैंक-मुद्राकोष-गैट की तिकड़ी के आगे आत्मसमर्पण कर दिया। उन्होंने देशी-विदेशी पूँजी के गठजोड़ से देश को एक नयी आर्थिक गुलामी में जकड़नेवाली नयी आर्थिक नीति का दस्तावेज संसद में स्वीकार किया। तब से आज तक जितनी भी सरकारें केन्द्र या राज्यों में सत्तासीन रही, सबने इन नीतियों को लागू किया। आज देश की सभी संसदीय पार्टियों में इन नीतियों के बारे में आम सहमति है। विडम्बना तो यह है कि जिन पार्टियों ने इन नीतियों का विरोध किया और इन नीतियों के प्रति भारतीय जनता में व्याप्त आक्रोश को भुनाते हुए चुनाव जीता, उन्होंने कहीं बढ़-चढ़कर इन नीतियों को लागू किया। आज सभी पार्टियों के नेताओं में विदेशी पूँजीपतियों को रिझाने की होड़ लगी है।

दुनिया-भर के सौदागर और उनकी बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ आज वैश्वीकरण के नाम पर दुनिया की जनता द्वारा पैदा की गयी विपुल सम्पदा को अपनी निजी सम्पत्ति में बदलने को आमादा हैं। पहले ही उन्होंने दुनिया की लूट से इफरात धन अर्जित किया है। साथ ही सोने को कागज और कागज को सोने में बदलने की जादूगरी के जरिये उन्होंने स्थायी मुद्रा का धोखा खड़ा किया है। उसी डॉलर, येन, यूरो के बल पर वे तीसरी दुनिया के देशों के प्राकृतिक संसाधन, कल-कारखाने, दूरसंचार, ऊर्जा, बन्दरगाह, हवाईपट्टी, जमीन-जायदाद, पेड़-पौधे, प्रयोगशाला, उच्च शिक्षण संस्थान, शोध संस्थान, सेवा क्षेत्र और यहाँ तक कि इन देशों के शासकों की आत्मा और प्रतिभाशाली लोगों के दिमाग तक को खरीद लेना चाहते हैं। विश्व बैंक, मुद्राकोष और विश्व व्यापार संगठन की गुलाम बनानेवाली नीतियों के जरिये वे पूरी दुनिया को एक विराट मुक्त क्षेत्र में तब्दील कर देना चाहते हैं। एक ऐसा मुक्त क्षेत्र, जहाँ उन पर कोई टैक्स न हो, नियम-कानूनों का कोई बन्धन न हो, कोई प्रतिबन्ध न हो कोई श्रम कानून न हो, मजदूरों के लिए न्यूनतम मजदूरी तक की गारंटी न हो और जहाँ न केवल उन्हें बेरोक-टोक मनमाना मुनाफा कमाने की छूट हो, बल्कि उनकी पूँजी की सुरक्षा और मुनाफे की पूरी गारंटी हो। उन देशों के सस्ते श्रम का शोषण और कच्चे माल का दोहन करने, वहाँ के पर्यावरण को तहस-नहस करने और सांस्कृतिक-सामाजिक संरचना को रौंदने पर कोई रोक न हो।

तीसरी दुनिया के जिन शासकों ने आज से कुछ दशक पहले राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के दौर में इन साम्राज्यवादी लुटेरों का विरोध किया था, वे अपनी जनता से गद्दारी करके उनके स्तुतिगान में लगे हुए हैं। यहाँ का मीडिया उनकी प्रशंसा के गीत गा रहा है। यहाँ के बिके हुए विचारक इन नीतियों की झूठी प्रशंसा में पोथियाँ लिख रहे हैं। तीसरी दुनिया के शासक पूँजीपतियों ने साम्राज्यवाद के साथ अपवित्र गठबन्धन कायम कर लिया है। इनके सहयोग के बिना वैश्वीकरण का अश्वमेध यज्ञ सफल नहीं हो सकता था। इन देशों के पूँजीपति विदेशी पूँजी निवेश और विदेशी तकनीक के लिए इतने लालायित हैं कि अपनी आजादी और आत्मसम्मान को कम-से-कम कीमत पर अपने विदेशी आकाओं को बेचने के लिए उनमें होड़ लगी हुई है। विदेशी पूँजी को रिझाने के लिए वे उन्हें हर तरह के टैक्स से मुक्त कर रहे हैं और उसकी भरपाई के लिए जनता पर नये-नये टैक्स लगा रहे हैं।

देश की वर्तमान भाजपा सरकार भी सुधारों को तीव्र गति से लागू करके और विदेशी पूँजी निवेश को बढ़ावा देकर यही दिखाना चाहती है कि वही डॉलर महाप्रभु की सबसे बड़ी भक्त है। अपनी भक्ति को प्रमाणित करने के लिए और जनता को वैश्वीकरण की बलि का बकरा बनाने के लिए वे शिक्षा, चिकित्सा और अन्य सामाजिक सेवाओं तथा आवश्यक वस्तुओं को दिनोंदिन महँगा कर रहे हैं और समाज के निर्बल वर्गों को दी जानेवाली सरकारी सहूलियतों में लगातार कटौती कर रहे हैं। वे देश की बहुसंख्य जनता को अपने ही देश में दोयम दर्जे का नागरिक और शरणार्थी बना रहे हैं।

वैश्वीकरण-उदारीकरण और निजीकरण का मेहनतकशों के लिए एक ही अर्थ है -देशी-विदेशी पूँजी की नृशंस गुलामी। गुलामी के इस नये दौर में साम्राज्यवादियों ने अपनी रणनीति बदल ली है। उपनिवेशवादी गुलामी के दौर में उन्हें गुलाम देशों की जनता का निर्मम और नृशंस नरसंहार खुद करना पड़ता था। अपनी प्रत्यक्ष उपस्थिति के कारण गुलाम देशों की जनता का कोपभाजन बनना पड़ता था। फौज-फाटा और अफसर रखना पड़ता था। आज इसकी कोई जरूरत नहीं है। न ही उन्हें नव-औपनिवेशिक दौर की तरह अपनी कठपुतली सरकार बनाने और समय-समय पर फौजी तख्ता पलट करवाने की जरूरत है। आज उनके वैश्वीकरण के प्रबल समर्थक और तीसरी दुनिया में उनकी लूट के संरक्षक उन्हीं देशों के शासक हैं, जो उनके वफादार सेवक हैं। वे उनकी नीतियों को यह कहकर जनता पर थोपते हैं कि यही हमारे देश के हित में है, कि वैश्वीकरण-उदारीकरण और निजीकरण के अलावा विकास अब और कोई रास्ता नहीं है। अपने शासकों और विदेशी साम्राज्यवादियों की साँठ-गाँठ के जरिये लादी जा रही गुलामी, पुरानी प्रत्यक्ष औपनिवेशिक गुलामी से ज्यादा जघन्य है, ज्यादा बर्बर है, लेकिन फिर भी लोगों में यह ज्यादा स्वीकार्य है। पिछले 10 वर्षों से हम इसी नये किस्म की गुलामी के साये में जी रहे हैं। वैश्वीकरण की गुलामी के इस दौर में साम्राज्यवाद के

साथ साँठ-गाँठ करके अदानी, अंबानी, प्रेमजी, टाटा, बिरला, वाडिया, नारायणमूर्ति जैसे मुट्टी-भर पूँजीपतियों ने इन नीतियों से भरपुर मुनाफा कमाया है। शेयर बाजार के मात्र पाँच लाख सट्टेबाजों ने एक साल में चार लाख करोड़ रुपये का मुनाफा कमाया,जो खेती पर निर्भर 67 करोड़ जनता की कुल आय से भी ज्यादा है। पूँजीपतियों के अलावा देश के नौकरशाह, नेता, डीलर, डिस्ट्रीब्यूटर, एजेंट, माफिया, काले धंधे में लगे लोग, बिके हुए बुद्धिजीवी, मीडिया के शीर्षस्थ लोगों का एक तबका, मल्टीनेशनल के टुकड़खोर और टीवी-सिनेमा के व्यवसायी, कुल मिलाकर देश की आबादी का एक छोटा-सा हिस्सा विदेशी थैलीशाहों का पैरोकार और चाटुकार बन गया है। मध्य वर्ग का ऊपरी तबका भी साम्राज्यवादियों की जूठन चाटकर अपने को धन्य-धन्य समझता है। देश की शेष 80-90 प्रतिशत आबादी मजदूर, किसान, छात्र-नौजवान, छोटे कर्मचारी और छोटे-छोटे धंधों में लगे असंगठित क्षेत्र के मेहनतकश लोग आज इन नीतियों की मार से त्रस्त और बदहाल हैं।

वैश्वीकरण हमारे देश की बहुसंख्यक जनता के लिए एक राष्ट्रीय महाविपत्ति है। एक नये तरह की गुलामी है जो चतुराई और धूर्तता के साथ लायी जा रही है। अखबार, टीवी चैनल, पत्र-पत्रिकाओं और छोटे-बड़े नेता सभी इस साजिश में एक हैं। यह राष्ट्रीय महाविपत्ति है क्योंकि यह न केवल मजदूरों के लिए, बल्कि देश की 80 प्रतिशत जनता के लिए तबाही लेकर आयी है। इस महाविपत्ति का सामना करने के लिए देश की 80 प्रतिशत जनता को संगठित होना होगा। देशी-विदेशी पूँजी के इस कातिलाना हमले का मुकाबला हम अकेले-अकेले लड़कर नहीं कर सकते। पिछले 10 वर्षों के दौरान देश की जनता में इस महाविपत्ति का अहसास बढ़ा है। लोगों ने इसका विरोध भी किया है। आन्दोलन भी हुए हैं और आज भी जनता के अलग-अलग तबके इसके खिलाफ लगातार संघर्षरत हैं। लेकिन, अपने मुश्तरका दुश्मन के खिलाफ एकजुट होकर लड़ने के बजाय अब तक हम छिटपुट, स्थानीय, विभागीय और बिखरी-बिखरी लड़ाइयाँ ही लड़ते रहे हैं। देशव्यापी एकजुट संघर्ष अभी नहीं हो पाया है। यही कारण है कि प्रतिरोध संघर्षों के अनवरत सिलसिले के बावजूद देशी-विदेशी पूँजी का आक्रमण थमने के बजाय लगातार तेज होता जा रहा है। पिछले 20 वर्षों के दौरान बैंक, बीमा, सार्वजनिक निगम, बिजली, गोदी और बन्दरगाह, कोयला खदान, परिवहन और विभिन्न सरकारी विभागों की यूनियनों ने जुझारू आन्दोलन किये। देश के विभिन्न हिस्सों में उदारीकरण, निजीकरण और विदेशीकरण के खिलाफ जन-पक्षधर संगठनों तथा मजदूरों, किसानों, आदिवासियों, छात्र-नौजवानों, मछुआरों, चाय बागान के मजदूरों, प्राइवेट कारखानों, देशी-विदेशी पूँजीपतियों के उद्योगों के कामगारों और असंगठित क्षेत्र के मजदूरों ने अपने-अपने क्षेत्र में दृढ़तापूर्वक संघर्ष चलाया। कुछ मामलों में उन्हें आंशिक सफलता भी मिली, लेकिन आमतौर पर इन संघर्षों का निर्णायक नतीजा सामने नहीं आया है। इन आन्दोलन को कुचलने के लिए देश के शासकों ने एस्मा, राष्ट्रीय सुरक्षा कानून और टाडा जैसे काले कानूनों तथा बर्बर पुलिस दमन का सहारा लिया है। किसी-किसी मामले में तो उन्होंने अपने पूर्ववर्ती शासक अंग्रेजों को भी पीछे छोड़ दिया है। दूसरे चरण के सुधार के महत्त्वपूर्ण अंग के रूप में सरकार नया श्रम कानून लाने की तैयारी कर रही है। विदेशी साम्राज्यवादियों के साथ षडयंत्र करके सरकार एक ऐसा श्रम कानून तैयार कर रही है जिसके जरिये देश में मजदूरों-कर्मचारियों द्वारा लम्बे संघर्षों के बाद प्राप्त जनवादी अधिकार उनसे छीन लिये जायेंगे। श्रम सुधार की प्रक्रिया में मजदूर संगठनों का कोई प्रतिनिधि शामिल नहीं किया गया है जबकि देश के पूँजीपतियों को लेकर सरकार ने अनेकानेक सलाहकार समितियों का गठन किया है। देशी-विदेशी पूँजीपतियों द्वारा श्रम कानूनों में बदलाव के लिए लगातार दबाव डाला जाता रहा है। भाजपा की नयी सरकार उनके अरमानों को पूरा करने जा रही है।

वैसे तो हमारे देश की सरकार मजदूर आन्दोलनों का दमन करने के लिए किसी भी जनवादी अधिकार की परवाह नहीं करती। वह यूनियन पर भले ही प्रतिबन्ध न लगा पाये, लेकिन आये दिन हड़तालों पर रोक के लिए एस्मा और राष्ट्रीय सुरक्षा कानून का इस्तेमाल करती है। साथ ही यूनियनों को तोड़ने, नेताओं को डराने, धमकाने, फर्जी मुकदमों में फँसाने और प्रलोभन देने तथा अपने प्रचार माध्यमों के जरिये यूनियनों के खिलाफ जनता को भड़काने का कोई अवसर हाथ से नहीं जाने देती। इस नयी गुलामी के खिलाफ उठनेवाले भावी तूफानों का सरकार को पूरी तरह आभास है और ये सारी तैयारियाँ भावी झंझावातों से बचाव के लिए ही हो रही हैं।

आज हमारा देश और हमारा आन्दोलन एक ऐसे मोड़ पर खड़ा है, जहाँ से आगे बढ़ने का एकमात्र रास्ता है मेहनतकशों की व्यापक, सुदृढ़ और जुझारू एकता। आज दुनिया-भर के मजदूरों के हितों पर कुठाराघात करने के लिए दुनिया-भर के पूँजीपति आपस में गठजोड़ कर रहे हैं। दूसरी ओर राजनीतिक पार्टियाँ मेहनतकश जनता को जाति-धर्म और क्षेत्र के झगड़ों में उलझाकर उनकी एकता को खंडित कर रही हैं। पूँजी के समवेत आक्रमण का मुकाबला हम भला अकेले कर पायेंगे? हमें न सिर्फ अपनी एकता के मार्ग में आनेवाली बाधाओं को हटाकर अपनी एकता को मजबूत बनाना है, बल्कि हमें अपने साथ जनता के उन सभी तबकों को भी एकजुट करना है, जो इस राष्ट्रीय महाविपत्ति से व्यग्र और बेचैन हैं। कुछेक आनुष्ठानिक हड़तालों,आन्दोलनों और छिटपुट संघर्षों के बल पर हम वर्तमान चुनौतियों का सामना नहीं कर सकते। पिछले 10 वर्षों का अनुभव हमें यही सिखाता है। इसलिए हमें देश के सभी मेहनतकशों की एकता कायम करने और इस संघर्ष को देश-भर में फैलाने का प्रयास करना होगा। हमें पूरी क्षमता और संकल्प के साथ इस काम में लग जाना होगा, बिना यह परवाह किये कि हमारी ताकत कम है और आन्दोलन कमजोर। जब काम शुरू होगा तभी वह पूरा भी होगा। यह समय किसी मसीहा, किसी चमत्कारी नेता के इंतजार का नहीं है। यह समय अपनी ताकत और अपनी एकजुटता पर भरोसा करने का है। इस राष्ट्रीय विपदा की घड़ी में देश को नेतृत्व देने के लिए हमें ही आगे आना होगा। इस नयी गुलामी के खिलाफ लड़ाई में अपनी तमाम कमजोरियों के बावजूद हम अगली कतारों में रहे हैं और आगे भी हमें अपने ऐतिहासिक दायित्व का निर्वाह करना होगा। निश्चय ही यह एक कठिन चुनौती है। यह काम असम्भवप्राय लग सकता है, लेकिन हमारे देश और दुनिया का इतिहास हमें बताता है कि क्रान्तिकारी आन्दोलन छिटपुट झड़पों और छोटी-छोटी कार्रवाइयों से शुरू होकर देशव्यापी रूप ग्रहण करते हैं और निर्णायक मोड़ तक पहुँचते हैं। इसके लिए हमें --

★ मजदूर आन्दोलन में इंकलाबी जोश भरने के लिए उसे अर्थवाद, कानूनवाद और राजनीतिक पार्टियों के पिछलग्गूपने से बाहर निकालना होगा। ★ गुटबन्दी, विभागवाद और फूटपरस्ती की बेड़ियों को तोड़कर मेहनतकशों की नयी और व्यापक एकजुटता कायम करनी होगी। ★ असंगठित क्षेत्र के मजदूरों को संगठित करने पर विशेष जोर देना होगा।★ मजदूरों-कर्मचारियों और सभी मेहनतकश तबकों की क्रान्तिकारी एकता स्थापित करनी होगी। ★ निजीकरण के नाम पर विदेशीकरण, विकास के नाम पर विनाश को न्योता देने और देश को गुलामी में जकड़नेवाली नव उदारवादी साम्राज्यवादी आर्थिक नीतियों के खिलाफ निर्णायक संघर्ष की तैयारी करनी होगी।